संपादन:
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

सह संपादक:
माधव केलकर
दीपक वर्मा

चित्रांकन:
विप्लव शशि

सहयोग:
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-13, सितम्बर-अक्टूबर 1996

संपादन एवं वितरण:

एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशगाबाद - 461 001
फोन: 07574-3518

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 35 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: बर्फीले मौसम में आग पर गर्म होता पानी। गर्म होता पानी कई रोचक स्थितियां प्रदर्शित करता है। पानी के गर्म होने से उबलने तक की पूरी प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण पृष्ठ 13 पर। **पिछला आवरण:** मेंढक के अंडाणु में कोशिका विभाजन। अंडाणु के निशेचित हो जाने के बाद उसमें कोशिका विभाजन शुरू हो जाता है। एक से दो, दो से चार, चार से आठ. . .। इस विभाजन का परिणाम ब्लास्टुला के रूप में सामने आता है – कोशिकाओं की गेंद के समान एक रचना। यह गेंदनुमा रचना बीच से पोली होती है और इस खाली जगह में द्रव भरा होता है। भ्रूण निर्माण में ब्लास्टुला के बाद की अवस्था है तीन पर्तों वाली रचना जिसे गैस्टुला कहते हैं। इस विषय पर और जानकारी पृष्ठ 56 पर।

इस अंक में विभिन्न किताबों से लिए गए चित्र – साभार: *मॉडर्न केमिस्ट्री*, प्रकाशक: होल्ट राइनहार्ट एंड विन्सटन इन्क., न्यूयार्क; *इनोर्गेनिक केमिस्ट्री*, प्रकाशक: हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स; *प्रेक्टिकल फिज़िक्स*, प्रकाशक: सॉन्डर्स कॉलेज पब्लिशिंग, अमेरिका; *द अर्थ इज़ राउण्ड*, लेखक: आइज़ेक एसिमोव, लौंगमेन ग्रुप लिमिटेड; लाइफ, प्रकाशक: सिन्योर एसोसिएट्स इन्क. पब्लिशिंग; *बायोलोजिकल साइन्सेज़*, लेखक: विलियम टी. कीटन व जेम्स एल. गूल्ड, प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क।

जब पानी उबले 13

गर्म हो रहे पानी में उठती गुनगुनाहट की आवाज़ या यूं कहें कि बजता संगीत, उठते बुलबुले और निकलती भाप। ये तो ठीक है लेकिन पानी उबलेगा कब ये कैसे तय होगा? अगर थोड़े से वैज्ञानिक हो जाएं तो कहेंगे कि जब गर्म हो रहे पानी में बन रहे बुलबुलों का वाष्पीय दबाव, वायुमण्डलीय दबाव के बराबर या उससे अधिक हो जाएगा तो पानी उबलने लगेगा। और यही होगा उसका क्वथनांक। पानी के गर्म होने से लेकर उबलने तक की मज़ेदार प्रक्रिया और इस जानकारी के आधार पर बने कुछ उपयोगों की चर्चा।
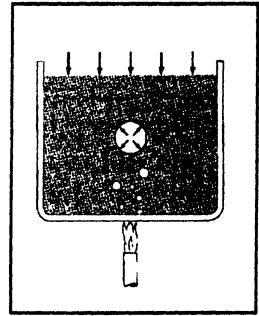
अनारको का दूसरा सपना. 77

अनारको बात-बात पर सवाल करती है और सही जवाब न मिले तो झुंझलाती है . . . . सोचती है कि वो क्या करे, कैसे करे यह सब पापा और मम्मी ही क्यों तय करते हैं? उसकी इच्छा जानने की कोई कोशिश क्यों नहीं करता . . . और बैठे-बैठे अनारको ख्यालों में खो जाती है, कल्पना में वह इस दुनिया को अपने ही नज़रिए से देखना शुरू कर देती है। वैसे हो सकता है कि अनारको कभी, कहीं आपसे टकरा जाए. . . तो खुशकिस्मत समझेंगे अपने आप को अगर उसने आपको अपना दोस्त बना लिया, आखिर है ही वो ऐसी। खैर अभी तो उसकी सपनों की दुनिया की ही सैर करते हैं।

कौन भाषा, कौन बोली 37

किसे भाषा कहें और किसे बोली? बरसों से पढ़ते चले आए हैं कि भाषा वो है जिसका कि व्याकरण है और बोली का व्याकरण नहीं होता। लेकिन क्या ये कहना सच है? या फिर और भी बहुत से दबे छुपे कारण हैं जो तय करते हैं कि कब किसे भाषा कहा जाता है और किसे बोली। कौन हल करेगा इस उलझन को? दरअसल भाषा और सत्ता का संबंध क्या है – इसे समझे बिना इस सवाल को समझना मुश्किल है। भाषा और बोली से जुड़े इस बुनियादी सवाल का विश्लेषण।

इस अंक में

आपने लिखा

मैं नवमीं और दसवीं कक्षा को विज्ञान पढ़ाती हूं। मुझे ऐसा लगता है कि विज्ञान पढ़ाते समय यह ज़रूरी नहीं कि दी जा रही रोचक जानकारियां सिर्फ विज्ञान से ही संबंधित हों।

जिस समय 'ये मुसाफिर दुनिया के' लेख वाला अंक मिला मैं दसवीं कक्षा में 'विश्व' पढ़ा रही थी। पाठ के सौंदर्य में इस मुसाफिर ने चार चांद लगा दिए। इसी तरह नवमीं में 'कोशिका' पढ़ाते समय 'प्रयोगशाला में आलू' काम आ गए।

'ये मुसाफिर .....' दसवीं कक्षा में पढ़ाते समय मज़ा इसलिए भी आया क्योंकि मेरे यह पूछे जाने पर कि 'क्या प्रवास सदैव अच्छा होता है?' (मेरा आशय शिकार से था) छात्रों ने इसे अलग तरह से प्रस्तुत किया। वे इसे पलायन एवं देशप्रेम से जोड़ बैठे। ज़ाहिर है इसे गलत नहीं कहा जा सकता। उनकी रुचि देखकर मैंने उन्हें 'संदर्भ' पढ़कर अपने विचार संपादक को लिख भेजने को कहा। छात्रों को समझाते समय मैंने नक्शों एवं चित्रों का उपयोग ज़्यादा नहीं किया।

प्रवास के दौरान आने वाली विविध कठिनाइयां लेख को पूर्णता देती हैं। वैसे बच्चे कुछ प्रवासी जीवों के नाम एवं प्रवास के कारण जानते थे। प्रवास के कुछ कारण बताने में लेख सहायक हुआ। पाठ्यक्रम में कुछ ऐसी ही रोचक जानकारियां, लेख एवं कहानियां सम्मिलित किए जाएं तो निश्चय ही शिक्षण कार्य रुचिकर हो सकेगा।

आलू के प्रयोग में स्टार्च परीक्षण, ऑस्मोस्कोप, तने की काट शामिल थे। छात्राओं ने अपने घरों की क्यारियों एवं स्कूल में आलू की आंख बोई। हां, मिथिलिन ब्लू के साथ प्रयोग सफल नहीं हुआ। हल्का घोल सही तरीके से नहीं बन सका था, और बाकी के रसायन तो हमारे पास थे ही नहीं।

लेख 'पूर्व समझ जानना ज़रूरी' में पूरा ध्यान बच्चों पर है। आप तो जानते हैं कि आजकल आमतौर पर स्कूलों में शिक्षक का किसी विषय का विशेषज्ञ होना ज़रूरी नहीं होता। शायद इसलिए भी शिक्षण के स्तर में पतन होता है क्योंकि शिक्षक को मजबूरन अनपढ़ा विषय पढ़ाना पड़ता है। हो सकता है शिक्षक संकोच के कारण अपनी कठिनाइयां किसी से पूछ नहीं पा रहा हो, तो क्यों न 'संदर्भ' इनकी गुपचुप मदद कर दे। इस लेख में आपको त्वरण, वेग, विस्थापन, ऊर्जा आदि को इतने सरल तरीके से समझाना था कि यदि कोई संस्कृत का शिक्षक भी इसे यूं ही देख रहा हो तो इसे पूरा पढ़कर ही छोड़े और समझ भी जाए।

कविता शर्मा, सरस्वती शिशु मंदिर
हरदा, जिला होशंगाबाद

मैंने 'संदर्भ' के करीब हर अंक को पढ़ा है और इन्हें संग्रह करके रखा है। दसवें अंक में प्रकाशित लेख 'जब गुलाम सुलतान बने', 'सूत्र से समीकरण' और इसी तरह आठवें अंक में 'पोलियो और पक्षाघात' आदि बहुत रोचक लगे। विषय

का प्रस्तुतिकरण अत्यंत स्पष्ट, सरल भाषा में होने से यह विद्यार्थियों व शिक्षकों के लिए समान रूप से उपयोगी है। प्रजनन के लिए विभिन्न जीव-जंतुओं में प्रवास की कितनी विलक्षण क्षमता होती है यह ग्यारहवें अंक को पढ़कर पता चला।

'ये मुसाफिर ....' और इसी अंक में छपे 'सू आदिवासी ....' ने ही यह पत्र लिखने के लिए विवश किया। अमेरिका में किस तरह से आदिवासी समुदाय को उसकी संस्कृति से अलग-थलग करके रखा जा रहा है यह जानकारी इस निबंध से मिली।

'स्कूल की मार' पढ़कर यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा कि आखिर विद्यालय का विकल्प क्या है? हम भावी पीढ़ी को शिक्षा से वंचित भी तो नहीं रख सकते। सवालीराम द्वारा दिया गया जवाब 'घोड़ा बैठता है, लेटता भी है' रोचक लगा। इसी तरह एक अन्य लेख से पता चला कि बच्चों की पूर्व समझ को जानना निहायत ज़रूरी है अन्यथा बच्चे रट्टा पद्धति पर ही ध्यान देंगे और उनमें विज्ञान के प्रति सकारात्मक रुचि पैदा होने की संभावना नहीं होगी। कहानी 'चूहे' का प्रस्तुतिकरण अत्यंत रोचक था।

गणित भी विज्ञान की एक शाखा है।

गूलर और अंजीर

संदर्भ के 11वें अंक में 'गूलर के फूल क्यों नहीं दिखते' विषय पर डॉ. भोलेश्वर दुबे तथा किशोर पंवार का लेख पढ़कर हर्ष हुआ। एक विषय विशेष पर गहन अध्ययन के लिए नौजवान शिक्षकों को उकसाने का मेरा प्रयास सफल रहा।

मेरे आलेख (अंक 10) की आधार-पुस्तक कोई पचास साल पुरानी है। स्वाभाविक है कि उसके बाद के शोधकार्य से बहुत सारे नए तथ्य प्रकाश में आए होंगे। यह बिल्कुल संभव है कि तीन प्रकार के हाईपैंथोडियम पुष्पक्रम के विन्यास के बारे में मेरी 40 साल पहले की याददाश्त ने धोखा दिया हो। परन्तु 'स्कीन' के अनुसार मादा ब्लास्टोफैगा निश्चित ही अण्डाशय की भित्ति को ओवीपोज़ीटर से छेदकर अण्डे देती है। वर्तिका को छेदकर अण्डे देने वाली बात ठीक नहीं लगती। खोटे और खरे मादा पुष्पों की अण्डाशय भित्ति की कठोरता ही प्रभावी कारक है।

दोनों शिक्षकों ने जैसा कि इशारा किया है कि अंजीर वाली बात गूलर पर भी लागू हो यह ज़रूरी नहीं है। वैसे भी मैंने देखा है कि पके ताज़े अंजीर में कोई कीट नहीं होते पर गूलर में पंख वाले कीट मिलते हैं। पता नहीं ये ब्लास्टोफैगा है या कोई और। कीटशास्त्री और वृक्षशास्त्री ही इस पर कोई निर्णय दे सकते हैं।

डी. एन. मिश्रराज
मयूर विहार, दिल्ली

पाइथागोरस प्रमेय को सिद्ध करने की अपेक्षाकृत सरल विधि संभव हो तो आगामी अंकों में प्रकाशित करें। एकलव्य का विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम, सामाजिक विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम आदि क्या हैं? आगामी अंकों में इस बारे में कुछ जानकारी दें तो जानकारी में वृद्धि होगी।

अंत में एक और सुझाव कि संपादक के नाम पत्र लिखने के लिए पता आप प्रत्येक अंक में 'आपने लिखा' स्तंभ में ज़रूर प्रकाशित कीजिए ताकि अधिकाधिक पाठकों के विचार आपको ज्ञात हो सकें। आशा करता हूं कि विज्ञान, गणित से संबंधित विविध सामग्री को इसी तरह रोचक ढंग से प्रकाशित किया जाता रहेगा।

राजेन्द्र बिशनोई (शिक्षक)
राजकीय माध्यमिक विद्यालय, जानेवा
ज़िला नागौर, राजस्थान

खग्रास सूर्यग्रहण – मेरे अवलोकन

अभी हाल ही में संदर्भ का ग्याहरवां अंक प्राप्त हुआ। उसमें प्रकाशित 'सूर्य ग्रहण एक रिपोर्ट' बहुत पसंद आया। इसे पढ़ते ही मेरी याद ताज़ा हो गई।

24 अक्टूबर 1995 को हुए खग्रास सूर्य ग्रहण को देखने मैं अपने माता-पिता के साथ भरतपुर गया था। सूर्योदय के कुछ मिनट पूर्व ही हम शहर के सबसे ऊंचे स्थान, जवाहर बुर्ज पहुंच गए थे। यह एक किले का हिस्सा है। बुर्ज पर पहुंचकर सूर्योदय के चार-छह फोटो लिए। एक स्थान पर लोहे की छड़ गाड़ दी एवं उसके नीचे ड्रॉइंग शीट बिछा दी। एक कार्बन पेपर पर दो सेंटीमीटर व्यास का वृत काटकर और उसे शीशे पर चिपकाकर हम अपने साथ लाए थे। वहां हमें एक अंधेरा कमरा भी मिल गया जिसमें सूर्य के प्रकाश को परावर्तित कर कमरे की दीवार पर पूर्ण सूर्य देखा जा सकता था। हमने चश्मों से भी सूर्य को देखा। खग्रास ग्रहण के समय छड़ की परछाई हिलती प्रतीत हुई। सूर्य के नीचे एक तारा भी दिखा। एक हवाई जहाज़ भी बहुत तेज़ी से जाता हुआ दिखाई दिया। ग्रहण के बाद हम भरतपुर के पक्षी अभयारण्य भी गए थे। वहां जाकर पता चला कि यहां आने वाले कई लोग अपने अवलोकन ठीक ढंग से नहीं कर पाए क्योंकि अभयारण्य के बड़े-बड़े पेड़-पौधों से दिक्कत हो रही थी। चन्द्रमा का स्पर्श सुबह 7:26 एवं मोक्ष 10:48 पर हुआ। कुछ अवलोकन जो हमने किए, निम्न हैं –

ग्रहण के पूर्व

1. आकाश में चारों ओर हल्की-सी सप्तरंगी पट्टी थी।
2. 6:25 पर सूर्योदय हुआ और पक्षी चारों दिशाओं में उड़ गए।

3. रेडियो पर रिसेप्शन बहुत अच्छा था, मीडियम और शॉर्ट वेव पर, साथ ही काश्मीर रेडियो भी।
4. अधिकतर पक्षी V आकार में घूमने लगे।

आंशिक ग्रहण लगने पर

1. पक्षी कम हो गए।
2. प्रकाश कम हो गया।
3. प्रकाश की तीव्रता कम हो गई।
4. आकाश में चारों ओर केसरिया-सा रंग दिखने लगा।
5. ऐसा लग रहा था मानो पक्षी लक्ष्य-रहित घूम रहे हों।
6. 8:06 बजे – पूर्व क्षितिज पर बहुत कम रोशनी थी जैसे कि बारिश के समय क्षितिज प्रकाश रहित होता है।
7. धूप बिल्कुल कम हो गई।
8. ठंडक बढ़ गई जैसी कि सुबह सात बजे थी।
9. दूर की चीज़ें नहीं दिख रही थीं।
10. 8:10 बजे – पक्षी घोंसलों की ओर वापस जाने लगे। मकान, पेड़, पौधों की छाया नहीं दिख रही थी।

खग्रास सूर्य ग्रहण के समय

1. अंधकार छा गया।
2. पूर्व क्षितिज पर एक चमकीला तारा नज़र आया।
3. डायमंड रिंग दिखी।
4. पक्षी पूरी तरह निस्तेज हो गए, विश्राम स्थिति के समान।
5. ड्रॉइंग शीट पर गाड़ी हुई डंडियों की परछाई लहरा रही थी मानो लहराते हुए सर्प हों।
6. ग्रहण की अवधि 40 सेकेण्ड रही।

लोकेश रणदिवे, कक्षा-9, सूरज गंज, इटारसी
ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.

(लोकेश रणदिवे ने 24 अक्टूबर 1995 के सूर्यग्रहण के समय भरतपुर जाकर काफी विस्तृत अवलोकन लिए हैं। ऐसे अवलोकनों की सार्थकता तब और भी बढ़ जाती है जब उस घटना के पहले

और बाद के दिनों के अवलोकन भी हमारे पास हों — ताकि पता चले कि किन स्थितियों में बदलाव आया है — और फिर उन बदलावों के पीछे के कारण समझने की कोशिश की जाए।

पिछले साल हिन्दुस्तान में देखे गए सूर्यग्रहण के दौरान धूप-छांव की पट्टियां (शेडो बैंड्स) दिखने की खबर कहीं से भी नहीं आई है। लोकेश रणदिवे लिख रहे हैं कि ड्रॉइंग शीट पर गाड़ी गई डंडियों की परछाइयां लहराती हुई दिखाई दीं। अन्य पाठकों से अनुरोध है कि उन्होंने खुद अगर यह घटना देखी हो अथवा कहीं पढ़ा हो कि 24 अक्टूबर 1995 वाले सूर्यग्रहण के समय ऐसा देखा गया, तो हमें लिखें। — संपादक मंडल)

खेद: पिछले अंक में प्रकाशित लेख 'सवाल, जवाब और सवाल' को लिखा था लक्ष्मी नारायण चौधरी ने, असावधानीवश उनका नाम लेख की शुरूआत में नहीं जा सका।

सही जवाब: 'ज़रा सिर तो खुजलाइए' स्तंभ के अंतर्गत ग्यारहवें अंक में दो स्विच से एक बल्ब को जलाने और बुझाने की गुत्थी का हल पूछा गया था। इसका सही जवाब भेजने वालों में होशंगाबाद के मोहम्मद रज़्ज़ाक भी शामिल थे।

बच्चों से दोस्ताना रिश्ते

● कमलेश चन्द्र जोशी

"यदि आप पूछेंगे कि बच्चों के साथ दोस्ताना रिश्ते कैसे बन पाते हैं तो मैं यही जवाब दूंगा कि अगर आपमें कोई दुराव-छिपाव नहीं है, बच्चों की बातों को ध्यान से सुनते हैं और उनके साथ एक पारदर्शी संबंध रखते हैं तो आप उनसे गहरा रिश्ता बना पाएंगे।"

अंकुर संस्था के गौतमपुरी केन्द्र पर बच्चों के साथ काम करते हुए, मुझे इस बात पर गम्भीरता से सोचने-विचारने का मौका मिला है कि हमारा बच्चों के साथ एक गहरा रिश्ता कैसे बनता है? तथा यह रिश्ता हमारे बच्चों के साथ काम करने के लिए कितना ज़रूरी है? अगर हम आत्म-अनुशासन की बात करते हैं, तो हमें बच्चों की बातों को भी उतनी

जगह देनी होगी जितना कि हम चाहते हैं कि वे हमारी बात मानें। इसके साथ ही हमें अपनी गलती मानने में ज़रा भी संकोच नहीं करना चाहिए।

बच्चों की अपेक्षाएं

हमारे केन्द्र पर औपचारिक रूप से नमस्ते करने की कोई परम्परा नहीं है। चाहे वे बड़े हों या छोटे, अगर आपका मूड है तो नमस्ते कर लीजिए, अन्यथा कोई बात नहीं। मेरे साथ भी ऐसा होता रहता है। 'बगीचा समूह' की कल्पना, सावित्री, लक्ष्मी कभी मुझसे नमस्ते कर लेती हैं, तो कभी मैं उनसे नमस्ते कर लेता हूं। कुल मिलाकर कोई किसी के प्रति अभिवादन को लेकर आशान्वित नहीं रहता। कभी-कभी मैं नमस्ते करता हूं तो उनसे पूछ लेता हूं कि कल्पना, तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है; या लाइब्रेरी से तुमने कौन-सी किताब पढ़ी, कैसी लगी, कल क्यों नहीं आई, वगैरह। एक दिन कल्पना से मैं इसी तरह पूछ रहा था। लेकिन उसे ये बातें सतही मालूम हुईं। उसने अपना गुस्सा ज़ाहिर करते हुए तुरन्त कहा, "खुद तो आते नहीं हैं, न ही पढ़ाते हैं।" तब मैंने उसको समझाया कि तुम्हें अब शशि दीदी पढ़ाती हैं। मैं केन्द्र पर रोज़ तो आ नहीं पाता – कभी ऑफिस जाना होता है या कभी दूसरे केन्द्र पर। इसलिए मैं रोज़ तुम्हारे साथ कैसे बैठ सकता हूं? वह यह सब सुनकर समझ गई और सामान्य हो गई।

बगीचा समूह की एक और लड़की लक्ष्मी की भी बात सुनिए – हुआ यह कि एक रविवार तबीयत खराब होने की वजह से नाट्य गतिविधियों में मैं उनके साथ शामिल नहीं हो पाया। अगले दिन मैंने लक्ष्मी से पूछा, "कल तुमने क्या-क्या किया?" उसने तुरन्त जवाब दिया, "खुद तो आए नहीं थे। हमसे पूछते हैं क्या किया?" इन दो उदाहरणों से मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि अक्सर हम बच्चों से तो ज़रूर पूछते हैं, "तुम कल क्यों नहीं आए?" या यह भी आशा रखते हैं कि कल अगर वह न आने वाले हों तो पहले से बता दें। लेकिन हम उन्हें नहीं बताते कि मैं कल नहीं आऊंगा या मैं इस कारण से कल नहीं आ पाया। मैंने यह महसूस किया कि हमें भी अपना कर्त्तव्य मानते हुए उन्हें अपने आने या न आने के बारे में बताना चाहिए।

उसकी सहजता

रिश्तों के बारे में और उदाहरण देखें। मेरी साथी गीता की बेटी सुमित (छह वर्ष) अपनी छोटी बहन टुल्लू (आठ महीने) को गोदी में लिए बस्ती में अपनी मां को ढूंढ रही थी। मैं बस्ती में जा रहा था। उसे देखकर मैंने पूछा, "सुमित, कहां घूम रही हो?" उसने बताया, "मैं अपनी मम्मी को ढूंढ रही हूं।" इसपर मैंने कहा, "तुम

केन्द्र पर चलो, मम्मी बस्ती गई हैं। अभी आती ही होंगी।" मेरी बात सुनकर उसने बहुत सहजता से उत्तर दिया, "भैयाजी, मैं थक गई हूं (थकने वाली बात थी भी)। आप इसे गोदी लेकर केन्द्र चलो। वहां पर मैं इसे देख लूंगी।"

प्यारे और शैतान भी

चार वर्षीय नेहा और इन्द्रजीत के भी उदाहरण देखें। इन्द्रजीत – बहुत ही प्यारा, शैतान तथा चमकीली तेज़ आंखों वाला लड़का। जिसकी गतिविधियों को मैं चुपचाप देखता रहता हूं तथा मन-ही-मन खुश होता हूं।

वह हर सुबह मुझे केन्द्र पर मिलता है, और देखते ही पूछता है, " सर जी, मोटी वाली किताब ले आऊं?" उसके पास एक रंग-बिरंगी पंचतंत्र की कहानियों की मोटी किताब है। मैं कहता हूं, "ले आओ।" मैं उसकी किताब देखता हूं, चित्रों को दिखाकर कहानी बताता हूं। फिर उससे बात करता हूं कि तुम्हारा यह लॉकेट कौन लाया, इस लॉकेट पर क्या बना है? मैंने पूछा, "तुम्हारा पहले वाला लॉकेट कहां गया?" वह कहता है, "टूट गया न।" उसकी प्रिय गतिविधियां रंग-बिरंगी किताबों को देखना, पानी का नल खोलना और बंद करना, किताबों या अन्य चीज़ों को गिनना आदि हैं।

आइए देखें, वह गिनता कैसे है। एक दिन उर्मिल जी की सिलाई की कक्षा में इन्द्रजीत लड़कियों द्वारा बनाए गए कपड़े गिन रहा था। गिनने का उसका ढंग कुछ इस तरह था, एक रूमाल, एक कच्छा, एक पाजामा, एक फ्रॉक, एक ब्लाउज़ आदि। एक दिन मैंने उससे कहा, "इन्द्रजीत, चलो किताबें ठीक करते हैं। तुम ज़रा इन्हें गिनकर बताओ।" वह गिनता है – 4, 2, 5, 7, 16, 25, 6 – और कहता है कि 6 किताबें हैं।

गिनती से सम्बन्धित मेरे और भी अवलोकन रहे हैं। एक बार मैं गीता की कक्षा में बच्चों से लकड़ी के गट्टे गिनवा रहा था। उस समय भी मजेदार

अनुभव रहे। कुछ बच्चे तो सही गिन रहे थे लेकिन जिन्हें पूरी गिनती नहीं आती थी उनकी गिनती कुछ इस प्रकार थी – 1, 2, 4, 25, 54, 16, 18 ...... अंत तक आते-आते वे 100 ज़रूर कहते थे। कहने का मतलब कि आखिरी गट्टे या आखिरी चीज़ को सौ कहना है यह उन्हें बखूबी मालूम है! इस पर ज़रा गहराई से सोचा तो मुझे ख्याल आया कि गांव जाता हूं तो वहां पहली कक्षा में पढ़ने वालों के लिए योग्यता है – उसे अ, आ.... पूरे आने चाहिए तथा 1 से 100 तक गिनती भी आनी चाहिए। वहां माताएं अपने बच्चों के बारे में कुछ इस प्रकार बताती हैं, "बिटिया को अ, आ .... पूरा आवत है और एक से सौ तलक गिनती लिख लेत है।" इस बात से मुझे लगा कि बच्चे इसीलिए अंत में सौ कह रहे हैं ताकि लोग यह समझें कि उनको सौ तक गिनती आती है।

रंग-रबर के लिए ज़िद

आइये, अब चार वर्षीय नेहा के बारे में बात करें। नेहा से मेरी अभी-अभी दोस्ती हुई है। नेहा शुरू-शुरू में आकर केन्द्र की गतिविधियां देखती रहती थी। उसका प्रिय खेल था – बच्चों की चप्पल को अपने पैर में डालकर देखना। अगर ठीक आए तो उसे घर लेकर चले जाना। एक दिन, मैंने उसे अपने पास बुलाया, बैठाया और घर से कॉपी लाने को कहा। अब वो नियमित रूप से आती है, बैठती है। थोड़ा काम भी करती है। एक दिन उसे यह कहते हुए एक पेज दिया कि वह कुछ भी बनाए। उसने पहले कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएं खींची, फिर एक टेढ़ी-मेढ़ी आकृति बनाई। अब वह रंग के लिए अड़ गई। उसके इस अड़ने से ही मैंने जाना कि उससे अब एक अच्छा रिश्ता बन गया है। इसी तरह एक बार वह रिफिल से बनाई आकृति को रबर से मिटाने को उतारू हो गई। मुझसे कहने लगी, "ये (सलीम) मुझे रबर नहीं दे रहा है।" मैंने कहा, "सलीम इसे रबर दे दो।" सलीम कहने लगा, "भैयाजी, इससे रिफिल का बनाया नहीं मिटेगा।" सलीम अपनी जगह सही था। लेकिन नेहा की समझ में नहीं आया, वह अपनी मांग पर कायम रही। फिर मैंने सलीम से रबर मांगा और नेहा से कहा, "चलो मिटाओ।" लेकिन आकृति नहीं मिटी (मिटती भी कैसे!)। फिर मैंने उसे समझाया कि रबर से रिफिल का बनाया नहीं मिटता, पेंसिल से बनाया हुआ ही मिटता है। जब उसने करके देखा तो वह समझ पाई कि रबर से पेंसिल का बनाया हुआ ही मिटता है।

भोला (चार वर्ष) – बस नाम से भोला, स्वभाव से शर्मिला, परन्तु चुपके से शैतानी करने में तेज़। उसके प्रिय खेल हैं चटाई को लपेटना, केन्द्र के रंग व किताबें घर ले जाकर रख लेना।

एक दिन वह चुपचाप चटाई लपेट रहा था कि मैंने उसे देख लिया। उसे लगा कि शायद उसने कुछ गलत किया है। वह चटाई छोड़कर घर भागने लगा। तब मैंने उसे बुलाया और कहा, "चलो हम दोनों चटाई लपेटकर अंदर रख दें।" वह मान गया। यह करना उससे मेरे रिश्ते की पहली सीढ़ी थी। अब वह मेरे साथ बिखरी किताबें ठीक करता है, मेरे पास बैठता है और किताब, पेंसिल-चॉक कुछ भी मांग लेता है। कहने का मतलब अब उसे बिल्कुल भी हिचकिचाहट नहीं होती है।

गुड्डू के रंग निराले

अभी कुछ दिन पहले एक चार वर्ष का बच्चा केन्द्र के बाहर नल पर पानी पी रहा था और हमारे केन्द्र की गतिविधियों को गौर से देख रहा था। मैंने उसे बुलाया और वहीं सबके साथ बैठने को कहा। अब रोज़ अपनी मुड़ी-तुड़ी कॉपी लेकर वह आ जाता है। मैं उससे पूछता हूं कि गुड्डू क्या हाल है? मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का उसका ढंग निराला है। कभी वह मेरा हाथ पकड़ेगा या मेरे गले में बाहें डाल देगा। एक दिन उसने अपने गांव की भाषा में मुझसे पूछा, "कल नाय आय रहव?" तो मैंने उत्तर दिया कि मैं अपने ऑफिस गया था। जैसे तुम्हारे पापा भी काम पर जाते होंगे। उसकी भाषा मुझे बड़ी प्यारी लगती है। वह

चित्रों वाली किताब भी बहुत देखता है तथा उससे शाब्दिक संबंध भी बनाता है। एक दिन मैंने उसे नेशनल बुक ट्रस्ट की 'चंदामामा' किताब दी, यह देखने के लिए कि उस किताब के चित्रों से वह कैसे संबंध बिठा रहा है – "यह बिलार है। दरवाजा खोल के बाहर आय गयी। गोड़े से पल्ला खोल लेत है। भाग जात है।" उसकी इस अभिव्यक्ति से हम उस कथन को अपने सामने घटित होता देख पाए कि बच्चा पहले अपने घर की भाषा से ही चीज़ों से संबंध बैठाता है, बाद में वह मानक भाषा सीखता है। अब वह नियमित रूप से केन्द्र पर आता है तथा अपना काम करता रहता है।

किताब पाकर खुश हुआ

अंत में गीता की कक्षा के एक सात-आठ वर्षीय बालक कमलेश का उदाहरण दूंगा। कमलेश अपनी बड़ी बहन के लिए लाइब्रेरी से किताब ले

जाता है क्योंकि उसे अभी पूरी तरह पढ़ना नहीं आता। एक दिन उसने अपनी बहन के लिए वन्या प्रकाशन की बैगा लोक कथा 'सूरी गाय' चुनी और बोला, "भैयाजी मैं यह किताब ले जाऊंगा।" मैंने कहा कि मैं भी यह किताब ढूंढ रहा था। *(वास्तव में मैं भी उन दिनों आदिवासी कथाएं चुनकर पढ़ रहा था।)* मैंने कहा, "कल ले लेना। आज मैं पढ़ लूं।" वह मान गया। लेकिन हुआ यह कि उसी दिन वह किताब केन्द्र में आने वाली एक लड़की देखने लगी और फिर अपने साथ ले गई। मैं भी उससे किताब लेना भूल गया। अगले दिन कमलेश ने मुझसे किताब मांगी। लेकिन मैं निरुत्तर था। वो बड़े दुखी मन से कहने लगा, "मैंने गाय वाली कितनी अच्छी किताब ढूंढी थी। भैयाजी ने किसी दूसरे को दे दी।" उसके किताब न पाने की उदासी को मैंने बड़ी शिद्दत से महसूस किया। मैंने उसे वह किताब मंगवाकर तुरन्त दी। वह बहुत प्रसन्न हुआ और किताब देखकर उसका चेहरा एकदम खिल उठा।

एक और मज़ेदार बात

अपने केन्द्र की लाइब्रेरी की किताबों के बारे में मैं एक मज़ेदार बात कहना चाहूंगा कि आपने बड़ों को छोटे बच्चों के लिए किताब ले जाते ज़रूर देखा होगा। लेकिन हमारे यहां बच्चे अपने बड़े भाई-बहनों या पिताजी के लिए किताबें ले जाते हैं। इन बच्चों में कमलेश, महादेव, विनोद, अलाउद्दीन प्रमुख हैं। ये बच्चे अपने से बड़ों के टेस्ट का ध्यान रखते हुए किताब चुनते हैं। उनके चुनाव का तरीका भी देखें – किताब कुछ मोटी होगी, चित्र कम होंगे। अधिक चित्रों वाली पतली किताब नहीं लेंगे।

आखिर में अगर उपरोक्त उदाहरणों पर गौर करें और पूछें कि बच्चों के साथ ऐसे संबंध कैसे बने – तो मैं तुरन्त उत्तर दूंगा कि अगर आप में कोई दुराव-छिपाव नहीं है, आप बच्चों की बातों को ध्यान से सुनते हैं, उनकी समस्याओं पर ध्यान देते हैं; आप उनके साथ एक पारदर्शी संबंध रखते हैं तो आप उनसे अच्छे संबंध बना पाएंगे। उनके हमारे साथ ऐसे संबंध हों कि वे अपनी पूरी बात रख पाएं तथा हमें अपना साथी मानें। साथ में यह भी ज़रूरी है कि आप उनकी गलती निकालें तो अपनी गलती भी मानें।

सुमित को उदाहरण के रूप को देखें कि क्या इस तरह कोई बच्चा अपने स्कूल में सर या मैडम से कह पाता होगा? बच्चों के साथ काम करने से पहले हमारे लिए ज़रूरी है कि हम उनके साथ एक दोस्ताना रिश्ता बनाएं।

कमलेश चन्द्र जोशी – दिल्ली में अंकुर अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र में बच्चों के साथ विविध गतिविधियां करते और करवाते हैं। **इस लेख के सभी चित्र 'इंडिया माय चिल्ड्रन माय फ्यूचर' किताब से लिए गए हैं। इन्हें सी. कल्पना, 12 वर्ष एवं एस. जेना, 11 वर्ष ने बनाया है।**

जब पानी उबले. .

● अजय शर्मा

मुझे एक बात अक्सर महसूस होती है कि अगर विज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो हमारे रोज़मर्रा के हर काम या अनुभव का कोई न कोई रोचक पहलू ज़रूर होता है। पर शायद नवीनता और मौलिकता में ही रोचकता तलाशने की हमारी प्रवृत्ति इतनी बलवती होती है कि आम अनुभवों की खास बातों पर हमारी नज़र भूले-भटके ही पड़ती है। उबलते पानी जैसी आम चीज़ को ही लें। रसोई में आप रोज़ाना दसियों बार पानी उबालते होंगे, पर मुमकिन है कि इससे जुड़ी कई दिलचस्प बातों से आप आज तक अंजान हों।

जी हां, उबलता पानी भी कई रोचक और कौतूहलपूर्ण गुणधर्म दर्शाता है। इनमें से कुछ तो हमारे बावर्चीखानों में ही उजागर हो जाते हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो हमारे कारखानों की मशीनों के लिए अहम् हैं और कुछ जिनकी मदद से बाजीगर कई

हैरतअंगेज़ कारनामों को अंजाम दे पाते हैं।

रसोई में रोज़ाना होने वाले अनुभवों के आधार पर हम जानते हैं कि उबालने से पानी वाष्प (भाप) में परिवर्तित हो जाता है। वाष्प बनने की यह प्रक्रिया वाष्पीकरण कहलाती है। इसमें पानी द्रव अवस्था से गैसीय (वाष्प) अवस्था में परिवर्तित हो जाता है। पर हमारा अनुभव यह भी बताता है कि वाष्पीकरण की प्रक्रिया के लिए पानी का उबलना ज़रूरी नहीं है। सामान्य तापमान पर भी पानी की सतह से यह प्रक्रिया लगातार होती रहती है। पानी से भरा बर्तन कुछ दिन के लिए रख छोड़ने पर आप पाते हैं कि उसका सारा पानी धीरे-धीरे वाष्प बन कर उड़ जाता है। वाष्पीकरण के कारण ही हमारे गीले कपड़े खुली हवा में टांगने पर सूख जाते हैं। तो फिर ठंडे पानी की सतह से होने वाला वाष्पीकरण, उबलते पानी के वाष्पीकरण से कैसे भिन्न है? इसको जानने के लिए अपनी रसोई में पानी को उबाल कर देखते हैं।

बुलबुलों का संगीत

पानी को जलते स्टोव पर रखने पर आप पाएंगे कि पानी जैसे-जैसे गर्म होता है, बर्तन के पेंदे पर छोटे-छोटे बुलबुले बनने चालू हो जाते हैं। ये बुलबुले वाष्प के नहीं बल्कि हवा के होते हैं। दरअसल पानी को गर्म करते ही पानी में घुली हुई हवा बुलबुलों के रूप में इकट्ठी होने लगती है। ये बुलबुले फिर धीरे-धीरे बड़े होकर ऊपर की ओर उठते हैं, और सतह पर पहुंच कर फूट जाते हैं। इस तरह पानी के गर्म होने पर सबसे पहले उसमें से घुली हुई हवा निकल कर बाहर आ जाती है।* चूंकि पानी को बर्तन के तले से गर्मी प्राप्त होती है, इसलिए तले से सटी हुई पानी की सबसे निचली परत ही सबसे अधिक तापमान पर होती है। गर्म पानी हल्का होने के कारण ऊपर उठता है और ऊपर का ठंडा पानी नीचे उतर आता है। इस तरह गर्म होते पानी में संवहन धाराएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन धाराओं की बदौलत पूरे पानी का तापमान बढ़ने लगता है।

अभी-भी पानी उबलने की स्थिति में नहीं पहुंचा है। पर अब जैसे-जैसे बर्तन के तले का तापमान बढ़ने लगता है, पानी की सबसे निचली परत इतनी अधिक गर्म हो जाती है कि उसके अणु पेंदे पर जगह-जगह वाष्प के बुलबुलों के रूप में इकट्ठे होने लगते हैं। इस अवस्था के शुरू होते ही आप पाएंगे कि बर्तन का गर्म होता पानी

* ध्यान दें कि हवा के बुलबुले बनना सिर्फ पानी के गर्म होने की निशानी है, उसके उबलने की नहीं।

कब उबलेगा पानी: पानी अपने क्वथनांक पर तभी पहुंचता है जब बुलबुलों का वाष्पीय दबाव, वायुमंडलीय दबाव से ज़्यादा या उसके बराबर होता है। ऐसी स्थिति में ही भाप बुलबुलों के रूप में सतह तक पहुंच कर वायुमंडल में पहुंच पाती है।
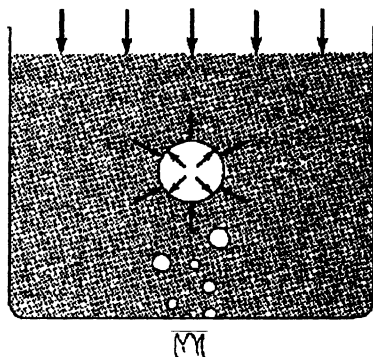
गुनगुनाने लगता है। धीरे-धीरे यह आवाज़ बढ़ने लगती है। यह आवाज़ हमें बता देती है कि पानी अभी उबला तो नहीं है, पर थोड़ी देर में उबलने वाला है। जैसा कि अब आप भांप गए होंगे यह संगीत बुलबुलों की मेहरबानी से ही बजता है। दरअसल इस अवस्था में सबसे निचली परत का पानी भले ही वाष्प में परिवर्तित होने लगा हो, पर ऊपर का पानी अभी भी द्रव अवस्था में और कुछ कम तापमान पर ही होता है। इसलिए पानी के बुलबुले तले से जैसे ही ऊपर उठते हैं, वे थोड़े ठंडे पानी के संपर्क में आ जाते हैं। अपने से कम तापमान के पानी में पहुंचने पर ये बुलबुले अपनी कुछ गर्मी अपने आस-पास के पानी को दे बैठते हैं। ऐसा होने पर वे सिकुड़ते हैं और अंत में फूट जाते हैं। भाप के ढेर सारे बुलबुलों के फूटने से ही पानी के गुनगुनाने की आवाज़ पैदा होती है। तापमान बढ़ने पर जैसे-जैसे और अधिक बुलबुले बनने और फूटने लगते हैं, वैसे-वैसे यह आवाज़ भी बढ़ने लगती है।

पर आपने गौर किया होगा कि अगर हम पानी को और अधिक गर्म करते रहें तो पानी के गुनगुनाने की आवाज़ धीरे-धीरे कम होने लगती है और अंतत: एक हल्की बुदबुदाहट के रूप में हमें सुनाई देती है। दरअसल इतना अधिक गर्म करने पर बर्तन में मौजूद सारा पानी उबलने के तापमान तक पहुंच जाता है। यानी पूरा पानी इतना अधिक गर्म होता है कि भाप के बुलबुले बिना फूटे ही सतह तक पहुंचने में सफल होने लगते हैं। सतह पर पहुंच कर बुलबुले एक हल्के छपाके के साथ फूट जाते हैं और उनमें मौजूद भाप वायुमंडल में विलीन हो जाती

बाहरी वातावरण पर दबाव डालते हुए बुलबुले के अंदर गतिमान वाष्प के अणु।
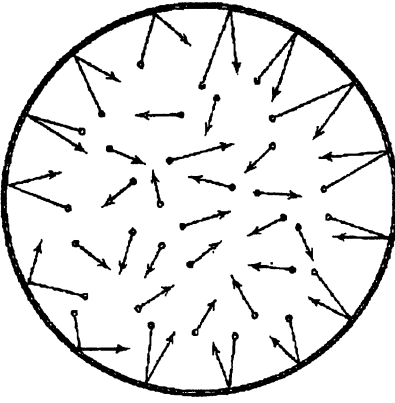
है। पानी से उठते शोर का कम होना और बदल जाना इसी वजह से होता है। और अब हम कह सकते हैं कि पानी पूरी तरह से उबलने लगा है। ठंडे पानी में वाष्पीकरण सतह से ही होता है। पर आपने देखा कि उबलते पानी में स्थिति थोड़ी जुदा है। यहां ज़्यादातर भाप (बुलबुलों के रूप में) सतह के नीचे ही बनती है।

कब उबलेगा पानी

तले पर बने इन बुलबुलों की पानी की सतह तक की यात्रा काफी जद्दोजहद भरी होती है। जैसा कि आप जानते होंगे, पानी की सतह पर वायुमंडलीय दबाव सदैव कायम रहता है। अब जैसे ही भाप का कोई बुलबुला गर्म पानी में बनता है, उस पर यह दबाव लगने लगता है। बुलबुले के ऊपर थोड़ा-सा दबाव उसके ऊपर मौजूद पानी के वज़न का भी होता है। पर दबाव लगने की यह प्रक्रिया एकतरफा नहीं होती। बुलबुलों में मौजूद गैसीय अवस्था वाले पानी के अणु भी अपने इर्द-गिर्द के पानी पर अपनी तेज़ गति के कारण वाष्पीय दबाव डालते हैं। जब तक बुलबुलों का अपना वाष्पीय दबाव, बाहरी दबाव से कम होता है, वे सतह तक की अपनी यात्रा में अपना अस्तित्व बचाए रखने में नाकाम रहते हैं, और बीच में ही फूट जाते हैं। जब तक यह हालात कायम रहते हैं, पानी उबलना शुरू नहीं करता। पर जैसे ही पूरा पानी इतना अधिक गर्म हो जाता है कि सतह तक पहुंचने तक वाष्प के बुलबुलों का वाष्पीय दबाव वायुमंडलीय दबाव से ज़्यादा या उसके बराबर ही रहे तो पानी अपने पूरे उबाल पर आ

जाता है।* यही अवस्था उस पानी का क्वथनांक (boiling point) निर्धारित करती है।

आपने देखा कि पानी का उबलना उसके तापमान के अलावा वायुमंडलीय दबाव पर भी निर्भर करता है। सामान्य परिस्थितियों में, यानी जब हम वायुमंडलीय दबाव को एक वायुमंडल मान सकते हैं, एक खुले बर्तन में गर्म किया गया पानी लगभग 100° से. के तापमान पर उबलता है। इस तापमान को पानी का क्वथनांक कहा जाता है। अब अगर किसी कारणवश वायुमंडलीय दबाव बढ़ जाए, तो क्या होगा?

वायुमंडलीय दबाव बढ़ने पर आप पाएंगे कि 100° सेल्सियस तापमान पर भी पानी में बनने वाले वाष्प के बुलबुलों का वाष्पीय दबाव वायुमंडलीय दबाव से कम ही रहेगा। परिणामस्वरूप बुलबुले पानी की सतह तक पहुंचने से पहले ही फूट जाएंगे और पानी नहीं उबलेगा। अब पानी को उबालने के लिए आपको थोड़ी और ऊष्मा देनी पड़ेगी जिससे आप के बुलबुलों में मौजूद अणुओं का विचरण और अधिक तेज़ गतियों से होने लगे।

अणुओं की औसत गति में बढ़त के कारण बुलबुलों के वाष्पीय दबाव में इतनी बढ़ोत्तरी तो होनी ही चाहिए कि वह फिर से बढ़े हुए वायुमंडलीय दबाव के बराबर तो हो ही जाए – पानी तभी उबलेगा। यानी वायुमंडलीय दबाव बढ़ने पर पानी 100° सेल्सियस से ज़्यादा तापमान पर ही उबलता है। मिसाल के तौर पर अगर पानी की सतह पर पड़ने वाला दबाव 1.4 वायुमंडल है तो क्वथनांक 110° से. होता है, और अगर दबाव बढ़ाकर

उबलना एक शीतलन क्रिया है!

सभी जानते हैं कि उबलता पानी बेहद गर्म होता है। अगर हमें बेहद गर्म पानी चाहिए तो हम अक्सर उबलते पानी की ही मांग करते हैं। पर यह तस्वीर सही नहीं है। सच तो यह है कि पानी का उबलना एक तापन क्रिया नहीं बल्कि एक शीतलन (ठंडा करने की) क्रिया है। यह इसलिए कि अगर एक बार पानी का उबलना चालू हो जाए तो फिर चाहे आप उसे कितना ही, और कितनी भी देर गर्म क्यों न कर लें उसका तापमान लेशमात्र भी नहीं बढ़ता। पर हमारा अनुभव तो यही बताता है कि अगर हम किसी पदार्थ को ऊष्मा दें तो उसका तापमान बढ़ना चाहिए। यानी चूल्हे पर चढ़े

शेष अगले पृष्ठ पर

* वायुमंडलीय दबाव की तुलना में पानी के वज़न से बुलबुलों पर पड़ने वाले दबाव को नगण्य मान सकते हैं।

प्रेशर कुकर में: होता यह है कि ढक्कन के द्वारा हम भाप के निकलने को अवरुद्ध कर देते हैं, और भाप पानी के ऊपर की खाली जगह में इकट्ठी होती रहती है। जैसे-जैसे भाप ठुंसती जाती है, उसके द्वारा पानी की सतह पर लगाया जाने वाला दबाव भी बढ़ता जाता है। लिहाज़ा कुकर में रखे पानी का क्वथनांक भी बढ़ता जाता है। इस वजह से गर्म होते पानी का तापमान भी बढ़ता जाता है। और खाना जल्दी पक जाता है।
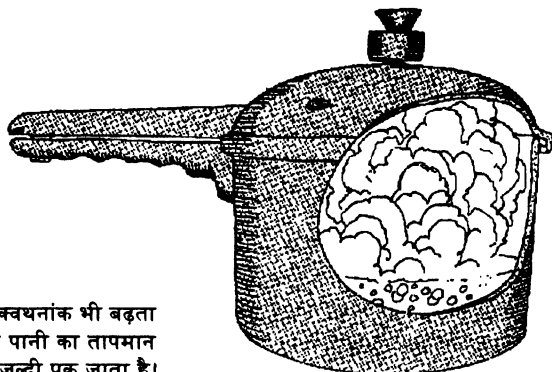
4.7 वायुमंडल कर दिया जाए तो पानी भी 100° से. के बजाए 150° से. पर ही उबलना चालू करता है।

उबलते पानी के इस गुणधर्म की बदौलत ही प्रेशर कुकर में खाना इतना जल्दी पक जाता है।

ठुंसती भाप और . . .

प्रेशर कुकर में भाप के बाहर निकलने के रास्ते को आप ढक्कन द्वारा रोक कर उसे पानी के ऊपर छोटी-सी जगह में ही इकट्ठी होने पर विवश कर देते हैं। जैसे-जैसे भाप उस खाली स्थान में ठुसने लगती है, उस के द्वारा पानी की सतह पर लगाया जाने वाला दबाव भी एक वायुमंडल से अधिक होता जाता है। लिहाज़ा कुकर में गर्म हो रहे पानी का क्वथनांक भी बढ़ जाता है। क्वथनांक बढ़ने से उबलते पानी का तापमान भी बढ़ जाता है। इसी कारण कुकर में खाना जल्दी पक जाता है।

इस चर्चा से अब सवाल यह उठता है कि सतह पर लगने वाले बाहरी दबाव में बढ़ोत्तरी अगर क्वथनांक

उबलते पानी में ज़रूर कोई शीतलन क्रिया चालू होती है। चूल्हा जिस दर से उबलते पानी को गर्म करता है उसी दर से वह क्रिया उसे ठंडा करती जाती है। अन्यथा पानी का तापमान अपने क्वथनांक से ऊपर ज़रूर बढ़ता। नहीं? यह शीतलन क्रिया और कोई नहीं, पानी का उबलना ही है। अगर किसी प्रकार आप गर्म होते हुए पानी को उबलने न दें तो आप पाएंगे कि पानी का तापमान 100° सेल्सियस से भी ऊपर बढ़ता चला जाता है। प्रेशर कुकर इसी सिद्धांत पर तो काम करता है।

को ऊपर खिसका देती है तो क्या वायुमंडलीय दबाव कम करने पर पानी 100° सेल्सियस से कम तापमान पर ही उबलना चालू कर देगा? जी हां, होता कुछ ऐसा ही है। पर्वतों पर ऊंचाई के कारण वायुमंडलीय दबाव एक वायुमंडल से कम होता है, इसलिए आप वहां पाएंगे कि पानी कम तापमान पर ही उबलना शुरू हो जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार समुद्र सतह से हर एक किलोमीटर ऊपर जाने पर क्वथनांक 3° से. कम हो जाता है।

पानी के इस गुणधर्म को भौतिक-शास्त्री प्रयोगशालाओं में अक्सर एक बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। पानी से भरे बर्तन को एक ऐसे बड़े बर्तन में रखते हैं जिसमें अंदर निर्वात पैदा किए जाने की व्यवस्था होती है। फिर एक चूषक पंप के द्वारा निर्वात बर्तन के अंदर की हवा का दबाव धीरे-धीरे कम किया जाता है। ऐसा करने पर पानी का क्वथनांक भी घटने लगता है। कुछ देर बाद निर्वात बर्तन में हवा का दबाव इतना कम हो जाता है कि क्वथनांक घट कर पानी के तापमान तक पहुंच जाता है। अब पानी का कमाल देखिए। ठंडा पानी बिना गर्म किए ही उबलना चालू हो जाता है। पर जैसा कि हमने शुरू में ज़िक्र किया था वाष्पीकरण के लिए पानी को ऊर्जा की ज़रूरत पड़ती है। पर पानी को तो हम किसी भी तरह गर्मी पहुंचा नहीं रहे हैं। तो फिर...? दरअसल, यह ऊर्जा पानी अपने अणुओं की उष्मीय ऊर्जा से ही प्राप्त करता है। इससे अणुओं की उष्मीय ऊर्जा कम हो जाती है, और पानी का तापमान गिर जाता है। अब जब तक हवा का दबाव और अधिक कम करते रहेंगे, ठंडे पानी का उबलना चालू रहेगा और साथ-ही-साथ वह और भी अधिक ठंडा होता चला जाएगा।

यह प्रक्रिया चालू रहे तो अंततः उबलते हुए पानी का तापमान 0° से. तक पहुंच जाता है। अब आगे का नज़ारा इतना अजीबोगरीब होता है कि उसका पूरा लुत्फ सिर्फ देखकर ही लिया जा सकता है। जी हां, उबलता हुआ पानी जमने लगता है, और उसकी सतह पर बर्फ की परत बनने लगती है। उबलते हुए पानी के जमे हुए बुलबुलों की कल्पना करना शायद देखे बिना संभव न होगा।

अब तक की हमारी चर्चा और अपने खुद के अनुभवों से आपको शायद यह भी प्रतीत हो कि पानी के उबलने का एक ही तरीका होता है। वह है बर्तन के तले पर भाप के अलग-अलग असंख्य बुलबुलों का निरंतर बनना और सतह पर पहुंचकर फूट जाना। हम अपनी रसोईयों में पानी का इसी तरह उबलना देखते हैं। पर प्रयोग-शालाओं में कहानी यहीं खत्म नहीं होती।

रसोई में जब हम पानी उबालते

हैं तो बर्तन का तापमान उबलते पानी के तापमान से 4°-10° सेल्सियस ही ज़्यादा होता है। पर अगर प्रयोग-शालाओं में उपलब्ध बर्नरों की मदद से हम बर्तन का तापमान लगातार बढ़ाते रहें तो हमें उबलते पानी के और नए रूप देखने को मिलते हैं।

बर्तन का तापमान बढ़ते रहने पर सबसे पहले हमें बुलबुलों की तादाद में बढ़ोत्तरी देखने को मिलती है। धीरे-धीरे ये बुलबुले इतने ज़्यादा हो जाते हैं कि अलग-अलग रहते हुए सतह तक पहुंचने की बजाय वे मिल कर वाष्प की उन्मादित धाराओं को जन्म देते हैं। ये धाराएं अपने में ज़बरदस्त हिलोरों और भंवरों को समेटे आत्म-मंथन करती हुई तले से ऊपर उठती हैं, और सतह पर पहुंचकर अपने आप को वायुमंडल को सौंप देती हैं।

भाप पर तैरता पानी

अब अगर बर्तन का तापमान और अधिक बढ़ता रहे तो पानी का उबलना एक नया रूप धारण कर लेता है। यह अवस्था थोड़ी विचित्र होती है। इस अवस्था में हम पाते हैं कि अगर बर्तन का तापमान बढ़ा दिया जाए तो पानी को बर्तन से गर्मी मिलने की दर बढ़ने की बजाए घट जाती है। है न कुछ गड़बड़?

दरअसल होता यह है कि उबलते पानी के इस अवस्था में पहुंचते ही बर्तन के पेंदे का ज़्यादातर हिस्सा भाप से ढंक जाता है। यानी पानी की सबसे निचली परत में पानी कम और भाप ज़्यादा हो जाती है।

अब चूंकि भाप की ऊष्मा सुचालकता पानी से लगभग दस गुना कम होती है, लिहाज़ा बर्तन से पानी तक ऊष्मा स्थानांतरण की दर में भी कटौती आ जाती है। अब बर्तन को आप जितना अधिक गर्म करते जाएंगे, भाप के बीच में आ जाने के कारण पानी का बर्तन के तले से सीधा संपर्क उतना ही कम होता जाएगा। और साथ-साथ पानी को ऊष्मा मिलने की दर भी कम होती जाएगी। उन कारखानों में जहां मशीनों को ठंडा रखने के लिए पानी का इस्तेमाल किया जाता है, पूरी कोशिश की जाती है कि पानी कभी इस अवस्था में न पहुंचे अन्यथा मशीनों को नुकसान पहुंचने का डर रहता है।

अगर अब भी हम अपनी ज़िद पर अड़े रहें और बर्तन को और अधिक गर्म करते जाएं, तो देखते हैं कि बर्तन का पूरा तला वाष्प की परत से ढंक जाता है। यानी पानी का तले से संपर्क बिलकुल खत्म हो जाता है और अब पानी भाप पर 'तैरने' लगता है। ऐसे में पानी को बर्तन से गर्मी मिलना भी काफी कम हो जाता है। उबलते पानी की इस अवस्था को फिल्म बॉइलिंग (film boiling) कहा जाता है।

आप भी करके देखें

एक सरल से प्रयोग के माध्यम से आप भी देख सकते हैं कि बाहरी दबाव से पानी का उबलना किस प्रकार प्रभावित होता है। एक कोनिकल फ्लास्क में पानी लेकर उसे उबालें। जब पानी उबलने लगे तो उसे लौ पर से हटा लें और उसके मुंह को रबर के कार्क से ज़ोर से कस दें – थोड़ा इंतज़ार करें जिससे कि पानी उबलना बंद हो जाए। अब इस कोनिकल फ्लास्क पर ठंडा पानी डालें।

आप देखेंगे कि पानी अपने आप फिर से उबलना चालू हो जाता है – एकदम जादू की तरह! क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि ऐसा क्यों हुआ?

रसोई में आप पानी को 'फिल्म बॉयलिंग' तक की अवस्था तक तो उबाल नहीं पाते, लेकिन फिर भी रसोई में 'फिल्म बॉइलिंग' यदा-कदा देखने को मिल ही जाती है। रोटी बनाने वाला तवा कितना गर्म है यह देखने के लिए कई लोग उस पर पानी की कुछ बूंद छिड़क कर पता लगाते हैं। अगर तवे को चूल्हे पर रखे कुछ ही देर हुई है, तो तवे पर पड़ते ही बूंदें कुछ ही सैकेंडो में भाप बन कर उड़ जाती हैं। लेकिन अगर तवा चूल्हे पर काफी समय से रखा है तो ज़रूरी नहीं कि ऐसा ही हो। अगर तवा खूब गर्म है – करीब 200° सेल्सियस तक – तो आप देखेंगे कि पानी की बूंदें तवे पर पड़ते ही गायब नहीं हो जाती।

वे भाप में परिवर्तित होने से पहले करीब एक मिनट तक मोतियों जैसे छोटे-छोटे दानों में बिखरकर पूरे तवे पर इधर-उधर नाचती रहती हैं। ऐसा इन बूंदों में होने वाली 'फिल्म बॉयलिंग' के कारण ही होता है।

खौलते पानी से पानी खौलाना

एक पतीले में पानी भर कर उसे उबलने के लिए चूल्हे पर रख दें। अब एक छोटी-सी शीशी में पानी भर कर पतीले के पानी में इस तरह डुबोएं कि न तो शीशी में पतीले का पानी भर पाए और न ही शीशी पतीले के तले से स्पर्श करे। कुछ देर बाद जब पतीले का पानी उबलने लगेगा तो शीशी के अंदर के पानी का क्या होगा? चाहे कितनी देर से सही, क्या अंततः वह भी खौलने लगेगा? क्यों?

एक समयहीन माहौल में समय
बंकर में जीवन

● एल. गीता

"... मेरी दिनचर्या की लय, एकाकी कक्ष में प्रवेश के बाद से हर दिन खिंचती गई और इसके साथ ही सोते हुए या जागते हुए बिताई गई समयावधि भी हर दिन बढ़ती गई। इस तरह मैं एक दिन में एकमुश्त अधिकतम 34 घण्टे जागती रही थी और अधिकतम 19 घण्टे मैंने सोकर बिताए थे। नतीजतन कक्ष में मेरे एक दिन की लम्बाई लगभग 45.9 घण्टे की थी। यानी लगभग 48 घण्टे होते थे मेरे एक दिन में। सो मेरे सोने-जागने के चक्र में भी 45.9 घण्टों की लय चलती थी। मज़ेदार बात यह थी कि मेरे तापमान का चक्र तब भी चौबीस घण्टों के हिसाब से लयबद्ध था।"

संसार का हरेक जीव एक अंतर्निहित जैविक घड़ी का मालिक होता है। यह बात तभी साबित की जा सकती है जब किसी भी प्राणी को समयहीनता की परिस्थितियों में जीने दिया जाए। ऐसी परिस्थितियों में इन्सान कैसे काम कर पाता है? ऐसे कुछ कक्ष हैं जहां एक समयहीन माहौल में इन्सान अपनी अंतर्निहित जैविक घड़ी के अनुसार विविध शारीरिक क्रियाएं करते हुए आराम से रह सकते हैं। इस लेख में मदुरई कामराज विश्वविद्यालय में मौजूद ऐसे ही एक कक्ष में मेरे व्यक्तिगत अनुभवों का ज़िक्र है। मेरे (तीन बार के) वहां के प्रवास ने हमें इस महत्वपूर्ण खोज तक पहुंचाया कि एक औरत का माहवारी चक्र उसके सोने-जागने के चक्र से जुड़ा हुआ नहीं होता। इस तरह के प्रयोग, पाले (शिफ्ट-ड्यूटी) में काम करने वालों, विमान-सफर के

कारण जेट-लैग भुगतने वालों और अंतरिक्ष अध्ययनों में कैसे मददगार हो सकते हैं, इसका भी मैंने विवरण दिया है।

क्या है बंकर?

जब आपको किसी परीक्षा की तैयारी करनी हो या अलस्सुबह की कोई ट्रेन पकड़नी हो तो शायद कभी अलार्म घड़ी के बजने से ऐन पहले जाग जाने का अनुभव आपको हुआ होगा। यह उसी जैविक घड़ी के कारण सम्भव हो पाता है जो हम सबके पास है। जैसे हम रेडियो या टी.वी. के अनुसार मानक समय से अपनी घड़ियां मिलाते हैं, ठीक उसी तरह हमारा शरीर भी आसपास के वातावरण से मिल रहे संकेतों की मदद से अपनी घड़ी चौबीस घण्टों के एक समयचक्र के हिसाब से सेट कर लेता है। मसलन दूधवाले की साइकिल की घण्टी सुनकर हम यह जान जाते हैं कि सुबह हो गई है, बिना आंख खोले ही। इसके अलावा कई और चीज़ें भी हैं जो हमें समय के बारे में जानकारी दे सकती हैं – जैसे रोशनी, तापमान, शोर आदि। इन्सान की लगभग सभी शारीरिक क्रियाएं लयबद्ध होती हैं – यानि वे किसी निश्चित समय के अन्तराल के बाद दोहराई जाती हैं। जैसे हमारी नींद का समय, जागने का समय, हमारे शरीर का तापमान, शरीर से निकलने वाले सोडियम या पोटेशियम लवणों की मात्रा, पानी की मात्रा आदि कोई भी कार्य के बारे में सोचें तो वह लयबद्ध ही दिखते हैं। शरीर के ये सभी कार्य इसलिए एक लय में घटित होते हैं क्योंकि जिस वातावरण में

ऐसा है मदुरई कामराज विश्वविद्यालय का समयहीन बंकर – अंदर से।

हम रहते हैं उससे हमें लगातार समय की जानकारी मिलती रहती है।

अगर हमें किसी ऐसे माहौल में जीना पड़े जिसमें समय के बारे में कोई संकेत हमें मिले ही नहीं, तो क्या हो? अगर हम समय का हिसाब-किताब ही खो दें तो? कितना ज़रूरी होता है हमारे लिए समय का ज्ञान? ये कुछ ऐसे रोचक सवाल हैं जिनके जवाब तभी मिल सकते हैं जबकि हमारे पास एक ऐसा वातावरण उपलब्ध हो जो पूरी तरह से समय के संकेतों से मुक्त हो। और यह सच है कि इस तरह के वातावरण वाली परिस्थितियां दुनिया में केवल पांच जगह निर्मित की गई हैं! चूंकि ये 'समयहीन वातावरण' मानव पर प्रयोग करने के लिए बनाए गए हैं इसलिए इन्हें 'सुविधा' माना जाता है। दुनिया की ये पांचों खास सुविधाएं काफी कुछ एक-सी हैं इसलिए मैं सिर्फ उसका वर्णन करूंगी जो भारत में है। मेरा यकीन मानिए, मैं इस कक्ष का वर्णन बखूबी कर सकती हूं — इस समयहीन कक्ष में मैंने अब तक (तीन टुकड़ों में) कुल मिलाकर लगभग सौ दिन बिताए हैं!

और सुविधाएं

भारत का एकमात्र एकाकी रहने का कक्ष (बंकर) मदुरई कामराज विश्वविद्यालय के 'जीव व्यवहार एवं शरीर विज्ञान' विभाग में है। बाकी चार ऐसे कक्ष अमेरिका, इंग्लैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड और जापान में हैं। भारत के इस बंकर में एक पच्चीस फुट लंबा और इतना ही चौड़ा, वर्गाकार कमरा है। बंकर में कोई खिड़की नहीं रखी गई है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इसमें सूरज की रोशनी न आ पाए। जो व्यक्ति इसमें रहते हैं, उनके इस्तेमाल के लिए यहां कृत्रिम लाइट लगाई गई हैं। इन लाइटों को चालू या बन्द रखने की छूट अन्दर रहने वाले व्यक्ति को दी जाती है। इस कमरे की दीवारें दोहरी बनाई गई हैं; और दोनों दीवारों के बीच रेत भरी गई है ताकि बाहर की कोई भी आवाज़ अन्दर सुनाई न दे। पूरे प्रयोग के दौरान इस परिवेश का तापमान लगभग 25 डिग्री सेल्सियस बनाए रखा जाता है। कमरे की हवादारी के लिए कुछ नलियां बनाई गई हैं जिनमें से हवा लगातार कमरे में प्रवाहित की जाती है। इन नलियों में भी बाहर की आवाज़ को अन्दर आने से रोकने का इंतज़ाम होता है। इस कमरे के साथ ही एक छोटा-सा रसोईघर और शौच एवं स्नानागार लगा हुआ है। रेफ्रीजरेटर, विडियो कैसेट प्लेयर, टेप रिकॉर्डर, व्यायाम करने की एक मशीन, कुर्सी-मेज़ और खाना पकाने के इंतज़ाम जैसी सारी सुविधाओं से लैस है यह कमरा। पर इस कमरे से ऐसी सब चीज़ें, जो समय की जानकारी दे सकती हैं (जिससे अन्दर रहने वाला

व्यक्ति उसके अनुसार अपने सब कार्य लयबद्ध कर सके), गायब हैं जैसे घड़ियां, टी. वी., रेडियो, सामयिक पत्रिकाएं आदि। इस कमरे से लगी एक छोटी-सी कोठरी में अन्दर रहने वाले व्यक्ति की ज़रूरत की सब चीज़ें रखी जाती हैं। बाहर की दुनिया से संवाद सिर्फ लिखित पर्चों के ज़रिए होता है। बाहर बैठा कोई व्यक्ति चौबीसों घण्टे इस कक्ष की सुविधाओं पर नज़र रखता है। अगर कभी बिजली गोल हो जाए तो मिनटों में ही जनरेटर चालू कर दिया जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति इस कमरे में रहता है उस दौरान उसकी सारी ज़रूरतें लगभग तुरन्त ही पूरी कर दी जाती हैं! संक्षेप में कहें तो वह व्यक्ति अन्दर के अपने प्रवास के दौरान 'राजसी बर्ताव' के मज़े लेता है!

क्या होता है बंकर में?

दुनिया भर के इन एकाकी कक्षों में कई रोचक प्रयोग किए गए हैं। जर्मनी के *ज्युरगेन एस्चोफ और आर. वेवर* ने इन कक्षों में पहली बार मानवों में मौजूद ऐसी जैविक लय पर प्रयोग किए थे जो स्वत: ही हर चौबीस घण्टे के बाद दोहराई जाती हैं। जर्मनी के (अब अक्रिय) एकाकी कक्ष में किए गए प्रयोगों से ही पहली बार यह बात साबित हुई थी कि इन्सान समय संकेतों के अभाव या गैरमौजूदगी में भी अपने प्राकृतिक काम किसी लय के अनुसार करते हैं; कि यह लयबद्धता अंतर्निहित है और इन्सान की किसी आंतरिक घड़ी पर निर्भर करती है। यह काम ऐसे समय में इन्सान के सोने-जागने के चक्र (हर रोज़ नींद आने और जागने के समय) को मापकर किया गया था जब वे एकाकी कक्ष में रह रहे थे। चूंकि साधारणतया हम हर रोज़, दिन के लगभग एक ही समय पर जागते हैं इसलिए दो लगातार दिनों के जागने के समय के बीच का अन्तराल लगभग चौबीस घण्टे का होगा। यानी यह उजाले-अन्धेरे के चौबीस घण्टे के प्राकृतिक चक्र से बंधा होता है। लेकिन लम्बे समय तक एकाकी परिस्थितियों में रहने से यह बंधन टूट जाता है और प्रयोग कर रहे व्यक्ति का समय आज़ाद हो जाता है। मतलब एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब किसी समय संकेत की गैरमौजूदगी में व्यक्ति की आंतरिक लय उभरकर सामने आती है। देखने में आया है कि ऐसे में सोने-जागने के चक्र में चौबीस घण्टों से ज़्यादा का अन्तराल हो जाता है। *एस्चोफ और वेवर* ने यह भी साबित किया कि सामाजिक संकेत भी इंसान को चौबीस घण्टे के चक्र के प्रति सजग बना देता है। इससे यह भी साबित हुआ कि सामाजिक संकेत हमारे जीवन में अंधेरे-उजाले के चक्र से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं।

हम रहते हैं उससे हमें लगातार समय की जानकारी मिलती रहती है।

अगर हमें किसी ऐसे माहौल में जीना पड़े जिसमें समय के बारे में कोई संकेत हमें मिले ही नहीं, तो क्या हो? अगर हम समय का हिसाब-किताब ही खो दें तो? कितना ज़रूरी होता है हमारे लिए समय का ज्ञान? ये कुछ ऐसे रोचक सवाल हैं जिनके जवाब तभी मिल सकते हैं जबकि हमारे पास एक ऐसा वातावरण उपलब्ध हो जो पूरी तरह से समय के संकेतों से मुक्त हो। और यह सच है कि इस तरह के वातावरण वाली परिस्थितियां दुनिया में केवल पांच जगह निर्मित की गई हैं! चूंकि ये 'समयहीन वातावरण' मानव पर प्रयोग करने के लिए बनाए गए हैं इसलिए इन्हें 'सुविधा' माना जाता है। दुनिया की ये पांचों खास सुविधाएं काफी कुछ एक-सी हैं इसलिए मैं सिर्फ उसका वर्णन करूंगी जो भारत में है। मेरा यकीन मानिए, मैं इस कक्ष का वर्णन बखूबी कर सकती हूं — इस समयहीन कक्ष में मैंने अब तक (तीन टुकड़ों में) कुल मिलाकर लगभग सौ दिन बिताए हैं!

और सुविधाए

भारत का एकमात्र एकाकी रहने का कक्ष (बंकर) मदुरई कामराज विश्वविद्यालय के 'जीव व्यवहार एवं शरीर विज्ञान' विभाग में है। बाकी चार ऐसे कक्ष अमेरिका, इंग्लैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड और जापान में हैं। भारत के इस बंकर में एक पच्चीस फुट लंबा और इतना ही चौड़ा, वर्गाकार कमरा है। बंकर में कोई खिड़की नहीं रखी गई है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इसमें सूरज की रोशनी न आ पाए। जो व्यक्ति इसमें रहते हैं, उनके इस्तेमाल के लिए यहां कृत्रिम लाइट लगाई गई हैं। इन लाइटों को चालू या बन्द रखने की छूट अन्दर रहने वाले व्यक्ति को दी जाती है। इस कमरे की दीवारें दोहरी बनाई गई हैं; और दोनों दीवारों के बीच रेत भरी गई है ताकि बाहर की कोई भी आवाज़ अन्दर सुनाई न दे। पूरे प्रयोग के दौरान इस परिवेश का तापमान लगभग 25 डिग्री सेल्सियस बनाए रखा जाता है। कमरे की हवादारी के लिए कुछ नलियां बनाई गई हैं जिनमें से हवा लगातार कमरे में प्रवाहित की जाती है। इन नलियों में भी बाहर की आवाज़ को अन्दर आने से रोकने का इंतज़ाम होता है। इस कमरे के साथ ही एक छोटा-सा रसोईघर और शौच एवं स्नानागार लगा हुआ है। रेफ्रीजरेटर, विडियो कैसेट प्लेयर, टेप रिकॉर्डर, व्यायाम करने की एक मशीन, कुर्सी-मेज़ और खाना पकाने के इंतज़ाम जैसी सारी सुविधाओं से लैस है यह कमरा। पर इस कमरे से ऐसी सब चीज़ें, जो समय की जानकारी दे सकती हैं (जिससे अन्दर रहने वाला

व्यक्ति उसके अनुसार अपने सब कार्य लयबद्ध कर सके), गायब हैं जैसे घड़ियां, टी. वी., रेडियो, सामयिक पत्रिकाएं आदि। इस कमरे से लगी एक छोटी-सी कोठरी में अन्दर रहने वाले व्यक्ति की ज़रूरत की सब चीज़ें रखी जाती हैं। बाहर की दुनिया से संवाद सिर्फ लिखित पर्चों के ज़रिए होता है। बाहर बैठा कोई व्यक्ति चौबीसों घण्टे इस कक्ष की सुविधाओं पर नज़र रखता है। अगर कभी बिजली गोल हो जाए तो मिनटों में ही जनरेटर चालू कर दिया जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति इस कमरे में रहता है उस दौरान उसकी सारी ज़रूरतें लगभग तुरन्त ही पूरी कर दी जाती हैं! संक्षेप में कहें तो वह व्यक्ति अन्दर के अपने प्रवास के दौरान 'राजसी बर्ताव' के मज़े लेता है!

क्या होता है बंकर में?

दुनिया भर के इन एकाकी कक्षों में कई रोचक प्रयोग किए गए हैं। जर्मनी के *ज्युरगेन एस्चोफ और आर. वेवर* ने इन कक्षों में पहली बार मानवों में मौजूद ऐसी जैविक लय पर प्रयोग किए थे जो स्वत: ही हर चौबीस घण्टे के बाद दोहराई जाती हैं। जर्मनी के (अब अक्रिय) एकाकी कक्ष में किए गए प्रयोगों से ही पहली बार यह बात साबित हुई थी कि इन्सान समय संकेतों के अभाव या गैरमौजूदगी में भी अपने प्राकृतिक काम किसी लय के अनुसार करते हैं; कि यह लयबद्धता अंतर्निहित है और इन्सान की किसी आंतरिक घड़ी पर निर्भर करती है। यह काम ऐसे समय में इन्सान के सोने-जागने के चक्र (हर रोज़ नींद आने और जागने के समय) को मापकर किया गया था जब वे एकाकी कक्ष में रह रहे थे। चूंकि साधारणतया हम हर रोज़, दिन के लगभग एक ही समय पर जागते हैं इसलिए दो लगातार दिनों के जागने के समय के बीच का अन्तराल लगभग चौबीस घण्टे का होगा। यानी यह उजाले-अन्धेरे के चौबीस घण्टे के प्राकृतिक चक्र से बंधा होता है। लेकिन लम्बे समय तक एकाकी परिस्थितियों में रहने से यह बंधन टूट जाता है और प्रयोग कर रहे व्यक्ति का समय आज़ाद हो जाता है। मतलब एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब किसी समय संकेत की गैरमौजूदगी में व्यक्ति की आंतरिक लय उभरकर सामने आती है। देखने में आया है कि ऐसे में सोने-जागने के चक्र में चौबीस घण्टों से ज़्यादा का अन्तराल हो जाता है। *एस्चोफ और वेवर* ने यह भी साबित किया कि सामाजिक संकेत भी इंसान को चौबीस घण्टे के चक्र के प्रति सजग बना देता है। इससे यह भी साबित हुआ कि सामाजिक संकेत हमारे जीवन में अंधेरे-उजाले के चक्र से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं।

व्यक्ति उसके अनुसार अपने सब कार्य लयबद्ध कर सके), गायब हैं जैसे घड़ियां, टी. वी., रेडियो, सामयिक पत्रिकाएं आदि। इस कमरे से लगी एक छोटी-सी कोठरी में अन्दर रहने वाले व्यक्ति की ज़रूरत की सब चीज़ें रखी जाती हैं। बाहर की दुनिया से संवाद सिर्फ लिखित पर्चों के ज़रिए होता है। बाहर बैठा कोई व्यक्ति चौबीसों घण्टे इस कक्ष की सुविधाओं पर नज़र रखता है। अगर कभी बिजली गोल हो जाए तो मिनटों में ही जनरेटर चालू कर दिया जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति इस कमरे में रहता है उस दौरान उसकी सारी ज़रूरतें लगभग तुरन्त ही पूरी कर दी जाती हैं! संक्षेप में कहें तो वह व्यक्ति अन्दर के अपने प्रवास के दौरान 'राजसी बर्ताव' के मज़े लेता है!

क्या होता है बंकर में?

दुनिया भर के इन एकाकी कक्षों में कई रोचक प्रयोग किए गए हैं। जर्मनी के *ज्युरगेन एस्चोफ और आर. वेवर* ने इन कक्षों में पहली बार मानवों में मौजूद ऐसी जैविक लय पर प्रयोग किए थे जो स्वत: ही हर चौबीस घण्टे के बाद दोहराई जाती हैं। जर्मनी के (अब अक्रिय) एकाकी कक्ष में किए गए प्रयोगों से ही पहली बार यह बात साबित हुई थी कि इन्सान समय संकेतों के अभाव या गैरमौजूदगी में भी अपने प्राकृतिक काम किसी लय के अनुसार करते हैं; कि यह लयबद्धता अंतर्निहित है और इन्सान की किसी आंतरिक घड़ी पर निर्भर करती है। यह काम ऐसे समय में इन्सान के सोने-जागने के चक्र (हर रोज़ नींद आने और जागने के समय) को मापकर किया गया था जब वे एकाकी कक्ष में रह रहे थे। चूंकि साधारणतया हम हर रोज़, दिन के लगभग एक ही समय पर जागते हैं इसलिए दो लगातार दिनों के जागने के समय के बीच का अन्तराल लगभग चौबीस घण्टे का होगा। यानी यह उजाले-अन्धेरे के चौबीस घण्टे के प्राकृतिक चक्र से बंधा होता है। लेकिन लम्बे समय तक एकाकी परिस्थितियों में रहने से यह बंधन टूट जाता है और प्रयोग कर रहे व्यक्ति का समय आज़ाद हो जाता है। मतलब एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब किसी समय संकेत की गैरमौजूदगी में व्यक्ति की आंतरिक लय उभरकर सामने आती है। देखने में आया है कि ऐसे में सोने-जागने के चक्र में चौबीस घण्टों से ज़्यादा का अन्तराल हो जाता है। *एस्चोफ और वेवर* ने यह भी साबित किया कि सामाजिक संकेत भी इंसान को चौबीस घण्टे के चक्र के प्रति सजग बना देता है। इससे यह भी साबित हुआ कि सामाजिक संकेत हमारे जीवन में अंधेरे-उजाले के चक्र से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं।

. . . कौन सा अंग बनेगा . . .

इतना आसान नहीं था यह पता करना और तय करना कि किस परत की कौन-सी कोशिका से कौन-सा अंग बनता है। 1929 में जर्मनी के भ्रूण विज्ञानी डब्लू. वोग्ट ने एक शोध पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने इस दिशा में किए गए अपने प्रयोगों की जानकारी दी थी। उन्होंने मेंढक के ब्लास्टुला की कई कोशिकाओं को विभिन्न रंगों के रंजक घुसेड़कर रंग दिया। थोड़ा विकसित हो जाने के बाद इन्हें काट-काट कर देखा कि अंत में ये रंगीन कोशिकाएं कहां पहुंचती हैं।

वैसे आजकल भ्रूणीय अवस्था में कोशिकाओं को चिन्हित करने के कई तरीके विकसित हो चुके हैं। जैसे कि कोशिकाओं में फ्लोरेसेन्ट पदार्थ (जो प्रकाश डालने पर चमकते हैं) डालना। इसके बाद 'फ्लोरेसेन्ट सूक्ष्मदर्शी' की सहायता से इन कोशिकाओं पर निगाह रखी जाती है।

इसी तरह की एक और प्रक्रिया में विभाजित हो रही शुरूआती कोशिकाओं में से कुछ में खास किस्म के एन्ज़ाइम प्रविष्ट करा दिए जाते हैं। तत्पश्चात भ्रूण के विकास की क्रिया आगे बढ़ती रहती है, कोशिकाओं में विभाजन जारी रहता है। कुछ समय बाद भ्रूण के विभिन्न भाग की कोशिकाओं को ऐसे पदार्थ में डुबाया जाता है जो उस एन्ज़ाइम से क्रिया करता है। जिन कोशिकाओं में वह एन्ज़ाइम मौजूद होगा उन्हीं के साथ यह पदार्थ क्रिया करता है। इससे पता चल जाता है कि वे कोशिकाएं जिनमें एन्ज़ाइम डाला था, उनसे भ्रूण के कौन से अंगों का निर्माण हुआ है।

सिरे में पहले से ही प्रारंभिक कोशिकाओं का जर्म प्लाज़्म रहता है। जबकि पूंछ वाले उभयचरों में मध्य परत से ही प्रारंभिक कोशिकाएं बनती हैं।

सरीसृप प्राणियों में प्रारंभिक कोशिकाएं बाह्य परत व मध्य परत के बीच की जगह से निकलकर रक्तवाहिनियों में आ जाती हैं। रक्त द्वारा ये फिर जनन अंगों में पहुंच जाती हैं।

बहुत से स्तनधारियों (जैसे चूहों) में यह देखा गया है कि अंत: परत की कुछ कोशिकाएं, जनन अंगों में पहुंच जाती हैं जो जनन कोशिकाओं का निर्माण करती हैं। इनमें कोशिकाएं रक्त वाहिनियों द्वारा जाने की बजाए अमीबा की तरह विचरती अपने गंतव्य तक पहुंच जाती हैं।

जनन कोशिकाओं में अल्केलाइन

व्यक्ति उसके अनुसार अपने सब कार्य लयबद्ध कर सके), गायब हैं जैसे घड़ियां, टी. वी., रेडियो, सामयिक पत्रिकाएं आदि। इस कमरे से लगी एक छोटी-सी कोठरी में अन्दर रहने वाले व्यक्ति की ज़रूरत की सब चीज़ें रखी जाती हैं। बाहर की दुनिया से संवाद सिर्फ लिखित पर्चों के ज़रिए होता है। बाहर बैठा कोई व्यक्ति चौबीसों घण्टे इस कक्ष की सुविधाओं पर नज़र रखता है। अगर कभी बिजली गोल हो जाए तो मिनटों में ही जनरेटर चालू कर दिया जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति इस कमरे में रहता है उस दौरान उसकी सारी ज़रूरतें लगभग तुरन्त ही पूरी कर दी जाती हैं! संक्षेप में कहें तो वह व्यक्ति अन्दर के अपने प्रवास के दौरान 'राजसी बर्ताव' के मज़े लेता है!

क्या होता है बंकर में?

दुनिया भर के इन एकाकी कक्षों में कई रोचक प्रयोग किए गए हैं। जर्मनी के *ज्युरगेन एस्चोफ और आर. वेवर* ने इन कक्षों में पहली बार मानवों में मौजूद ऐसी जैविक लय पर प्रयोग किए थे जो स्वत: ही हर चौबीस घण्टे के बाद दोहराई जाती हैं। जर्मनी के (अब अक्रिय) एकाकी कक्ष में किए गए प्रयोगों से ही पहली बार यह बात साबित हुई थी कि इन्सान समय संकेतों के अभाव या गैरमौजूदगी में भी अपने प्राकृतिक काम किसी लय के अनुसार करते हैं; कि यह लयबद्धता अंतर्निहित है और इन्सान की किसी आंतरिक घड़ी पर निर्भर करती है। यह काम ऐसे समय में इन्सान के सोने-जागने के चक्र (हर रोज़ नींद आने और जागने के समय) को मापकर किया गया था जब वे एकाकी कक्ष में रह रहे थे। चूंकि साधारणतया हम हर रोज़, दिन के लगभग एक ही समय पर जागते हैं इसलिए दो लगातार दिनों के जागने के समय के बीच का अन्तराल लगभग चौबीस घण्टे का होगा। यानी यह उजाले-अन्धेरे के चौबीस घण्टे के प्राकृतिक चक्र से बंधा होता है। लेकिन लम्बे समय तक एकाकी परिस्थितियों में रहने से यह बंधन टूट जाता है और प्रयोग कर रहे व्यक्ति का समय आज़ाद हो जाता है। मतलब एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब किसी समय संकेत की गैरमौजूदगी में व्यक्ति की आंतरिक लय उभरकर सामने आती है। देखने में आया है कि ऐसे में सोने-जागने के चक्र में चौबीस घण्टों से ज़्यादा का अन्तराल हो जाता है। *एस्चोफ और वेवर* ने यह भी साबित किया कि सामाजिक संकेत भी इंसान को चौबीस घण्टे के चक्र के प्रति सजग बना देता है। इससे यह भी साबित हुआ कि सामाजिक संकेत हमारे जीवन में अंधेरे-उजाले के चक्र से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं।

हम रहते हैं उससे हमें लगातार समय की जानकारी मिलती रहती है।

अगर हमें किसी ऐसे माहौल में जीना पड़े जिसमें समय के बारे में कोई संकेत हमें मिले ही नहीं, तो क्या हो? अगर हम समय का हिसाब-किताब ही खो दें तो? कितना ज़रूरी होता है हमारे लिए समय का ज्ञान? ये कुछ ऐसे रोचक सवाल हैं जिनके जवाब तभी मिल सकते हैं जबकि हमारे पास एक ऐसा वातावरण उपलब्ध हो जो पूरी तरह से समय के संकेतों से मुक्त हो। और यह सच है कि इस तरह के वातावरण वाली परिस्थितियां दुनिया में केवल पांच जगह निर्मित की गई हैं! चूंकि ये 'समयहीन वातावरण' मानव पर प्रयोग करने के लिए बनाए गए हैं इसलिए इन्हें 'सुविधा' माना जाता है। दुनिया की ये पांचों खास सुविधाएं काफी कुछ एक-सी हैं इसलिए मैं सिर्फ उसका वर्णन करूंगी जो भारत में है। मेरा यकीन मानिए, मैं इस कक्ष का वर्णन बखूबी कर सकती हूं — इस समयहीन कक्ष में मैंने अब तक (तीन टुकड़ों में) कुल मिलाकर लगभग सौ दिन बिताए हैं!

और सुविधाएं

भारत का एकमात्र एकाकी रहने का कक्ष (बंकर) मदुरई कामराज विश्वविद्यालय के 'जीव व्यवहार एवं शरीर विज्ञान' विभाग में है। बाकी चार ऐसे कक्ष अमेरिका, इंग्लैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड और जापान में हैं। भारत के इस बंकर में एक पच्चीस फुट लंबा और इतना ही चौड़ा, वर्गाकार कमरा है। बंकर में कोई खिड़की नहीं रखी गई है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इसमें सूरज की रोशनी न आ पाए। जो व्यक्ति इसमें रहते हैं, उनके इस्तेमाल के लिए यहां कृत्रिम लाइट लगाई गई हैं। इन लाइटों को चालू या बन्द रखने की छूट अन्दर रहने वाले व्यक्ति को दी जाती है। इस कमरे की दीवारें दोहरी बनाई गई हैं; और दोनों दीवारों के बीच रेत भरी गई है ताकि बाहर की कोई भी आवाज़ अन्दर सुनाई न दे। पूरे प्रयोग के दौरान इस परिवेश का तापमान लगभग 25 डिग्री सेल्सियस बनाए रखा जाता है। कमरे की हवादारी के लिए कुछ नलियां बनाई गई हैं जिनमें से हवा लगातार कमरे में प्रवाहित की जाती है। इन नलियों में भी बाहर की आवाज़ को अन्दर आने से रोकने का इंतज़ाम होता है। इस कमरे के साथ ही एक छोटा-सा रसोईघर और शौच एवं स्नानागार लगा हुआ है। रेफ्रीजरेटर, विडियो कैसेट प्लेयर, टेप रिकॉर्डर, व्यायाम करने की एक मशीन, कुर्सी-मेज़ और खाना पकाने के इंतज़ाम जैसी सारी सुविधाओं से लैस है यह कमरा। पर इस कमरे से ऐसी सब चीज़ें, जो समय की जानकारी दे सकती हैं (जिससे अन्दर रहने वाला

व्यक्ति उसके अनुसार अपने सब कार्य लयबद्ध कर सके), गायब हैं जैसे घड़ियां, टी. वी., रेडियो, सामयिक पत्रिकाएं आदि। इस कमरे से लगी एक छोटी-सी कोठरी में अन्दर रहने वाले व्यक्ति की ज़रूरत की सब चीज़ें रखी जाती हैं। बाहर की दुनिया से संवाद सिर्फ लिखित पर्चों के ज़रिए होता है। बाहर बैठा कोई व्यक्ति चौबीसों घण्टे इस कक्ष की सुविधाओं पर नज़र रखता है। अगर कभी बिजली गोल हो जाए तो मिनटों में ही जनरेटर चालू कर दिया जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति इस कमरे में रहता है उस दौरान उसकी सारी ज़रूरतें लगभग तुरन्त ही पूरी कर दी जाती हैं! संक्षेप में कहें तो वह व्यक्ति अन्दर के अपने प्रवास के दौरान 'राजसी बर्ताव' के मज़े लेता है!

क्या होता है बंकर में?

दुनिया भर के इन एकाकी कक्षों में कई रोचक प्रयोग किए गए हैं। जर्मनी के *ज्युरगेन एस्चोफ और आर. वेवर* ने इन कक्षों में पहली बार मानवों में मौजूद ऐसी जैविक लय पर प्रयोग किए थे जो स्वत: ही हर चौबीस घण्टे के बाद दोहराई जाती हैं। जर्मनी के (अब अक्रिय) एकाकी कक्ष में किए गए प्रयोगों से ही पहली बार यह बात साबित हुई थी कि इन्सान समय संकेतों के अभाव या गैरमौजूदगी में भी अपने प्राकृतिक काम किसी लय के अनुसार करते हैं; कि यह लयबद्धता अंतर्निहित है और इन्सान की किसी आंतरिक घड़ी पर निर्भर करती है। यह काम ऐसे समय में इन्सान के सोने-जागने के चक्र (हर रोज़ नींद आने और जागने के समय) को मापकर किया गया था जब वे एकाकी कक्ष में रह रहे थे। चूंकि साधारणतया हम हर रोज़, दिन के लगभग एक ही समय पर जागते हैं इसलिए दो लगातार दिनों के जागने के समय के बीच का अन्तराल लगभग चौबीस घण्टे का होगा। यानी यह उजाले-अन्धेरे के चौबीस घण्टे के प्राकृतिक चक्र से बंधा होता है। लेकिन लम्बे समय तक एकाकी परिस्थितियों में रहने से यह बंधन टूट जाता है और प्रयोग कर रहे व्यक्ति का समय आज़ाद हो जाता है। मतलब एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब किसी समय संकेत की गैरमौजूदगी में व्यक्ति की आंतरिक लय उभरकर सामने आती है। देखने में आया है कि ऐसे में सोने-जागने के चक्र में चौबीस घण्टों से ज़्यादा का अन्तराल हो जाता है। *एस्चोफ और वेवर* ने यह भी साबित किया कि सामाजिक संकेत भी इंसान को चौबीस घण्टे के चक्र के प्रति सजग बना देता है। इससे यह भी साबित हुआ कि सामाजिक संकेत हमारे जीवन में अंधेरे-उजाले के चक्र से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं।

मेरे अनुभव की शुरूआत

प्रयोगों के इन निष्कर्षों के आधार पर दुनिया भर में ऐसे ही कई और प्रयोग किए गए। भारत का हमारा एकाकी कक्ष भी कई रोचक निष्कर्षों तक पहुंचने का गौरव रखता है। यहां 1987 से प्रयोग किए जाने लगे। पहली बार *जी. मारीमुथु* नाम के, लय पर ही शोध कर रहे, एक व्यक्ति मदुरई के इस एकाकी कक्ष में रहे थे। जब मैं पहली बार यहां के 'जीव व्यवहार विभाग' में आई थी (जहां की विशेषता है जैविक लय पर शोध) तब मुझे इस कक्ष की एक झलक देखने को मिली थी। तुरन्त ही मैंने चाहा था कि इसमें रहने का अगला मौका मुझे मिले। मेरी खुशकिस्मती थी कि इस 'अपने तरह के एकमात्र कक्ष' को बनाने वाले और इस विभाग के अध्यक्ष एम. के. चन्द्रशेखरन लगभग तुरन्त ही मुझे प्रयोग के लिए अगला उम्मीदवार बनाने को तैयार हो गए। चूंकि मैं इन प्रयोगों में शामिल थी इसलिए मैं आपको इनके तौर-तरीकों के बारे में विस्तार से बताऊंगी। साथ ही अपने व्यक्तिगत अनुभव भी आपसे बांटूंगी। शुरू में मुझे कुछ दिन 'पूर्व-एकाकी काल' में रहना था जब मुझसे अपने सोने और जागने के समय नोट करने को कहा गया। मेरे शरीर का अन्दरूनी तापमान (core body temperature) भी सॉलीकार्डर नामक एक यंत्र से हर छह मिनट में नापकर एक कम्प्यूटर पर दर्ज कर लिया जाता था।

शरीर का तापमान नापने के पीछे भी एक कारण है। वैसे तो हम मानव स्थिरतापी होते हैं, पर हर दिन हमारे शरीर के तापमान में दो डिग्री सेल्सियस का एक बदलाव आता है। लगभग दोपहर के आसपास हमारा शारीरिक तापमान अपने अधिकतम पर होता है और सबसे कम, जब हम बीच रात में गहरी नींद में होते हैं। चूंकि हम हर रोज़ लगभग एक ही समय पर सोते हैं इसलिए सबसे कम शारीरिक तापमान वाला समय भी लगभग चौबीस घण्टे के अन्तराल में ही आना चाहिए। यानी हमारा तापमान चक्र (या लगातार दो दिनों में सबसे कम तापमान के बीच के समय का अन्तर) भी लगभग चौबीस घण्टे का होगा। हम यह पता लगाना चाहते थे कि एकाकीपन में इस तापमान की लय में कोई फेरबदल दिखता है कि नहीं। इसलिए एकाकीपन के पहले, उस दौरान और उसके बाद भी कुछ समय तक मेरे शरीर का तापमान नापा गया था। बंकर में प्रवास से एक दिन पहले ही मुझे उस कक्ष में एक रात बिताने को कहा गया। यह इसलिए कि एक तो मैं उस कक्ष से परिचित हो जाऊं और दूसरा, अगर कोई समस्या हो जिसे सुधारा जा सके तो उसका भी पता लग जाए। 4 मई, 1989 को मैंने

पहली बार उस एकाकी कक्ष में प्रवेश किया। उस कक्ष में जाने वाली मैं पहली महिला थी इसलिए आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मुझे कितनी पब्लिसिटी मिली होगी। मेरे सब दोस्त मज़ाक में कह रहे थे कि मैंने मदुरई की गर्मी से बचने के लिए एकाकी कक्ष में रहने के लिए मई का महीना चुना था!

बंकर में मेरा जीवन

तो, शाम को लगभग 5.00 बजे एकाकी कक्ष में मेरा प्रवास शुरू हुआ। एक अच्छे खासे जमावड़े ने मुझे विदा किया! व्यक्तिगत तौर पर, मेरे लिए यह एक सच होता हुआ सपना था! बहुत दिनों से मैं कहीं अकेली रहना चाह रही थी! पर यह तो सपने में भी न सोचा था कि वह 'कहीं' यह एकाकी कक्ष होगा और मैं उसमें एक शहज़ादी की तरह रहूंगी। एक दिन पहले मैंने प्रवास के लिए खूब सारी 'खरीददारी' की। इसलिए एकाकी कक्ष में घुसने के बाद पहले कुछ घण्टे मैंने वह सब खोलने और जमाने में बिताए। पहले दिन जब मैं सोने लगी तो मुझे एक ऐसे किस्म की शांति का अनुभव हुआ जैसा मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया था। अगली सुबह मैंने घड़ी में समय देखने के लिए आंख खोली तो एक झटके से मुझे याद आ गया कि यह एकाकी कक्ष था और मुझे अब काफी समय तक समय का पता नहीं चलना था! धीरे-धीरे मैं कक्ष के अपने एकाकी और समयहीन जीवन की आदी होने लगी। वाकई बहुत ही अनोखा अनुभव था वह — कुछ भी करने के लिए समय की कोई पाबन्दी नहीं थी। किसी निश्चित समय पर जागने, खाने या कुछ भी करने की कोई ज़रूरत नहीं थी और मुझे किसी तरह से ताकीद करने वाला भी कोई नहीं था। वह एक जीवन था जो मैं अपने लिए ही जी रही थी और मुझे यह खासा अच्छा लग रहा था। मुझे लगा कि यह एक ऐसी परिस्थिति थी जहां हम यह अहसास कर सकते हैं कि हम समाज की ज़रूरतों के अनुसार अपने आपको कितना ढालते हैं, समझौते करते हैं!

किसी भी समय की पाबंदी के न होते हुए भी, मैं काफी कुछ व्यवस्थित ही थी। हालांकि मैं अपने सारे काम तभी करती थी जब वे मुझे भाते थे। इस कक्ष की एक दीवार पर बीस बटनों का एक बोर्ड है, प्रत्येक बटन किसी एक काम के लिए निर्धारित। मसलन पहले नंबर का बटन निर्धारित है 'जागने' से, दूसरे नंबर का बटन है 'बिस्तर से उठने' से और इसी तरह बाकी भी। मैं जब भी कोई काम करूं तो मुझे उसके लिए निर्धारित बटन को दबा देना होता था। इससे बाहर लगे एक 'गतिविधि रिकॉर्डर' में सब कुछ रिकॉर्ड होता जाता था। इससे किसी भी समय बाहर के लोग यह

जान जाते थे कि मैं क्या कर रही हूं। मसलन मैं कब सोने जा रही हूं और कब जाग रही हूं यह पता लगाकर मेरे सोने-जागने के चक्र को बाहर से देखा जा सकता था। जब भी मुझे लगता कि दो घंटे हो गए होंगे मुझे आठ नंबर का बटन दबाना होता था। इस 'समय के अनुमान लगाने' से यह देखने की कोशिश करते हैं कि प्रयोग का उम्मीदवार समयहीन वातावरण में समय बीतने को कितना सटीक माप पाता है। मेरे चलने-फिरने की गतिविधियों को एक गतिविधि-मॉनिटर से मापा जाता था जिसे मैं अपने बाएं हाथ पर पहने रहती थी। इतने सब ताम-झाम के साथ तो मैं एक तमाशा दिखती थी, पर अलग दिखना भी बढ़िया लगता था। बस इतनी ही कसर थी कि मुझे देखने को वहां कोई न था! बटन दबाने के अलावा प्रयोग की खातिर मेरे पास करने को कुछ खास नहीं था। सारा दिन मेरे पास होता था, अपनी मर्ज़ी से बिताने को। मैं अपना समय पढ़ने, फिल्में देखने, संगीत सुनने, कुल मिलाकर इत्मीनान से मज़े करने में बिताती थी। बेशक, कभी-कभी मैं क्रोनोबायलॉजी (जीव समय-क्रम विज्ञान) भी पढ़ती थी। और बाकी समय मैं नए-नए व्यंजन आज़माने में खर्च करती थी। आमतौर पर एकाकी कक्ष में रह रहे व्यक्ति को अपना खाना खुद पकाने को कहा जाता है क्योंकि बाहर से खाना मुहैया करवाने में काफी दिक्कतें आती हैं। मसलन इस कक्ष में रहने वाले पहले व्यक्ति ने एक बार तब इडलियां मंगवाईं जब बाहर की दुनिया में रात के तीन बजे थे। उस समय इडलियां जुटाने में बाहरवालों को अच्छी-खासी मेहनत करनी पड़ी थी। आप समझ ही सकते हैं कि वे अन्दर के व्यक्ति को यह बता भी नहीं सकते थे कि बाहर ऐसे समय इडलियां आसानी से उपलब्ध नहीं होतीं। अन्दर के व्यक्ति की मानस से जूझना काफी मुश्किल काम होता है क्योंकि छोटी-से-छोटी असावधानी या गलती से भी उसे समय का कोई अंदाज़ा मिल सकता है। इसलिए उस वाकए के बाद से प्रयोग के उम्मीदवारों को अपना खाना खुद ही पकाने को कहा जाता है। आमतौर पर जितने लोग इस कक्ष में रह चुके थे (मुझसे पहले सात लोग), सबके वज़न कम हुए थे। मैं भी प्रयोग के बाद इस कक्ष से निकलते हुए एक 'छरहरे बदन की स्वयं' की कल्पना करती थी, और वही हुआ भी। कुल मिलाकर मेरा वज़न पांच किलो घट गया था! इसका कारण मुझे तभी पता चला जब प्रयोग खत्म हुआ और मैं बाहर आई।

क्या खोया, क्या पाया

दरअसल जब मुझसे कहा गया कि प्रयोग पूरा हो चुका था और मुझे

बाहर आना है तो यह मेरे लिए एक आश्यर्य था (और झटका भी!)। यह इसलिए क्योंकि शुरू में यह तय हुआ था कि मैं वहां कम-से-कम एक महीना रहूंगी। पर जब बाहर के लोगों ने मुझे बाहर बुलाया तब तक मैंने सिर्फ बाइस दिन ही गिने थे! मैं बाहर के लोगों से इस प्रयोग को बाइस दिन में ही खत्म कर देने के लिए काफी खफा थी। मेरे कक्ष से बाहर आने के कुछ मिनट बाद ही मुझसे उस दिन की तारीख का अंदाज़ा लगाने को कहा गया। आसपास खड़े लोगों का काफी मनोरंजन करते हुए मैंने कहा 26 मई, जबकि उस दिन की तारीख थी 8 जून। तो मैंने अपने जीवन के तेरह बेशकीमती दिन खो दिए थे। पर मुझे लगता है कि यह सार्थक ही था! कुल मिलाकर यह कि मैंने एकाकी कक्ष में पैंतीस 'कैलेण्डर दिनों' को बाइस 'व्यक्तिनिष्ठ दिनों' की तरह बिताया था। व्यक्तिनिष्ठ दिन यानी उतना समय जिसको मैंने एक दिन के बराबर माना था, न कि कैलेण्डर के मुताबिक चौबीस घण्टे का दिन। मेरी दिनचर्या की लय, एकाकी कक्ष में प्रवेश के बाद से हर दिन खिंचती गई और इसके साथ ही सोते हुए या जागते हुए बिताई गई समयावधि भी हर दिन बढ़ती गई। इस तरह मैं एक दिन में एकमुश्त अधिकतम 34 घण्टे जागती रही थी और अधिकतम 19 घण्टे मैंने सोकर बिताए थे। नतीजतन कक्ष में मेरे एक दिन की लम्बाई लगभग 45.9 घण्टे की थी। यानी लगभग 48 घण्टे होते थे मेरे एक दिन में। सो मेरे सोने-जागने के चक्र में भी 45.9 घण्टों की लय चलती थी। मज़ेदार बात यह थी कि मेरे तापमान का चक्र तब भी चौबीस घण्टों के हिसाब से लयबद्ध था। मेरे सोने-जागने के चक्र में बदलाव के बावजूद मेरे शरीर का तापमान हर चौबीस घण्टे बाद ही न्यूनतम पर आता था। मतलब मेरा तापमान मेरे व्यक्तिनिष्ठ दिन में दो बार न्यूनतम की ओर झुकता था। एक बार जब मुझे कायदे से सोना चाहिए था पर मैं जागती रहती थी और दूसरी बार जब मैं दरअसल सोती थी। मेरे एक व्यक्तिनिष्ठ दिन में दो बार न्यूनतम तापमान दर्ज होता था जिसके बीच लगभग 25.1 घण्टे का अंतराल होता था। दूसरे शब्दों में कहें तो मेरे सोने-जागने के चक्र और तापमान चक्र के बीच का रिश्ता टूट गया था।

आम तौर पर, सामान्य सामाजिक परिस्थितियों में सोने-जागने के चक्र और तापमान चक्र, दोनों में एक-सा अन्तराल होता है – लगभग चौबीस घण्टों का। ऐसे में कहा जाता है कि वे लयबद्ध हैं या उनमें एक तालमेल है। लेकिन जब कोई व्यक्ति एकाकी परिस्थितियों में रहता है तो उसका सोने-जागने का चक्र आज़ाद होकर भटकने लगता है और उसका अन्तराल
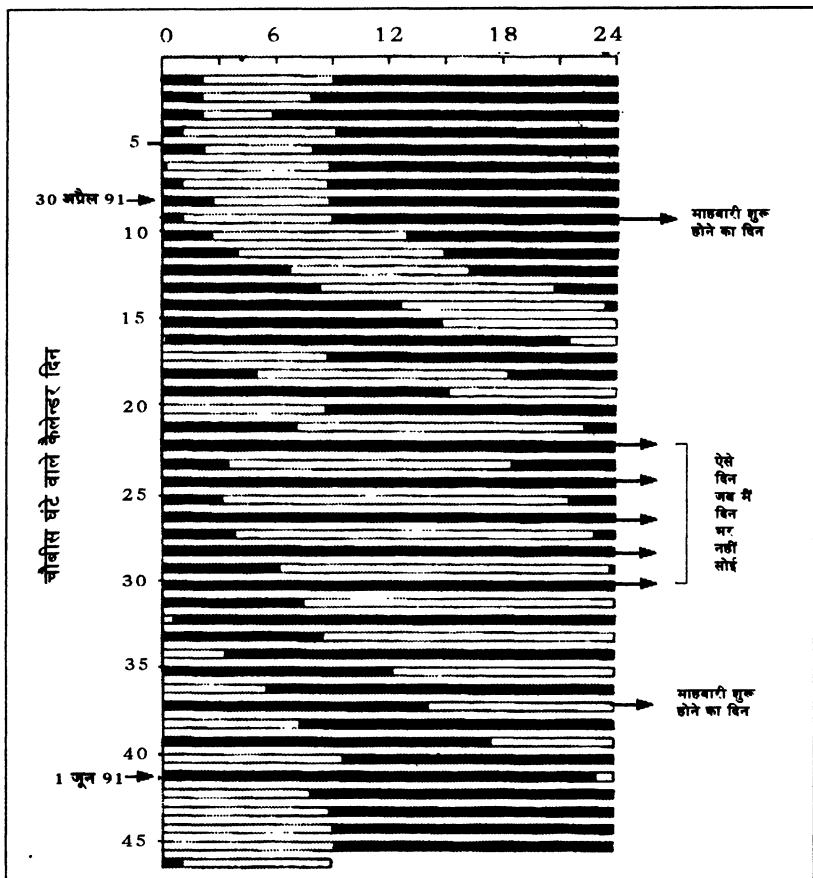
बंकर के अंदर रहने के दौरान मैं रोज़ (यानी चौबीस घंटे के कैलेण्डर दिन में) कितने घंटे सोई और कितने घंटे जागी, इसका ग्राफ। ग्राफ की हर लाइन एक पूरे दिन को दर्शाती है – खाली हिस्सा 'सोने का समय' और काला हिस्सा 'जागते रहने का समय' दर्शाता है।

आठवें दिन की लाइन के पास एक तीर लगा हुआ है। इस दिन मैं बंकर में दाखिल हुई। इसी तरह नीचे भी दो जून के पास एक तीर लगा है। इस दिन मैं बंकर से बाहर आई। बंकर में दाखिल होने के बाद पहली बार मुझे एक मई को माहवारी शुरू हुई और दूसरी बार 29 मई को।

ग्राफ देखकर पता चलता है कि मेरे सोते रहने और जागने के घंटे क्रमशः बढ़ रहे थे और बंकर से बाहर निकलने के कुछ दिन पहले इनमें करीबन स्थिरता आ गई थी।

इस पूरी अवधि के दौरान मैं सबसे अधिक देर करीब चौंतीस घंटे जागी रही और इसी तरह मैं सबसे अधिक देर सोई, करीब उन्नीस घंटे। ग्राफ को देखकर कहा जा सकता है कि कुछ दिन तो मैं सोई ही नहीं जैसे 18, 20 और 22 मई को।
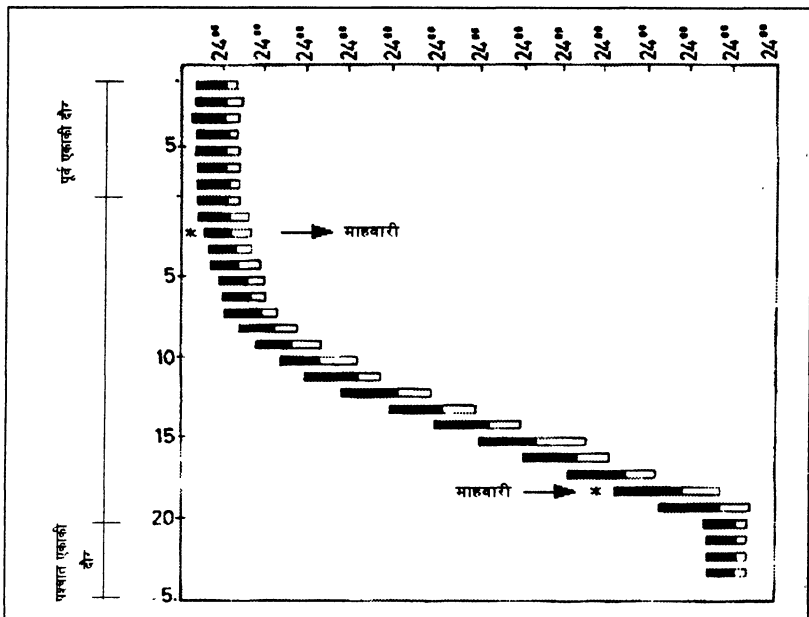
मैंने अपने दिन खोए: बंकर के अंदर मेरे अपने सोने और जागने के क्रम के कारण मैंने जितने दिन गिने उनका ग्राफ। मैंने 32 कैलेंडर दिनों की बजाए सिर्फ 20 दिन महसूस किए।

शुरू की आठ लाइनें बंकर में घुसने से पहले के आठ दिनों में मेरे सोने और जागने का क्रम है। नौवें दिन मैं बंकर में चली गई। इसी तरह जिस दिन मैं बाहर आई मेरे हिसाब से मैं सिर्फ बीस दिन अंदर रही थी जबकि कैलेंडर के हिसाब से 32 दिन हो चुके थे। काला वाला हिस्सा मेरे सोने के समय और खाली वाला हिस्सा मेरे जगे रहने के समय को दर्शाता है। नीचे की पांच लाइनें बंकर से बाहर आने के बाद के पांच दिनों में सोने और जागने का क्रम है।

ग्राफ को देखकर पता चलता है कि मेरे सोने और जागने के हिसाब से मेरे दिन की लंबाई बढ़ती जा रही थी – बाहर निकलने के दिन तक आते आते ये लगभग 48 घंटे का हो गया था। तारे के निशान मेरे माहवारी चक्र के शुरू होने के दिन को प्रदर्शित करते हैं।

चौबीस घण्टे से फर्क भी हो सकता है। पर ऐसे में तापमान चक्र के अन्तराल का बदलना ज़रूरी नहीं होता। वह लगभग चौबीस घण्टे की लय बरकरार रख सकता है, और अधिकतर रखता भी है। इस स्थिति को आन्तरिक लयबद्धता का टूटना या 'आन्तरिक लयहीनता' भी कह सकते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी शारीरिक लय शायद एक से ज़्यादा घड़ियों से नियंत्रित होती है।

अब हमारे पास एक रोचक सवाल था: माहवारी चक्र किस लय को मानेगा? लगभग 48 घण्टों वाला

सोने-जागने का चक्र या लगभग 24 घण्टों वाला तापमान चक्र? एकाकी कक्ष में मैंने सिर्फ बाइस दिनों के बीतने को महसूस किया था।

अगर माहवारी चक्र सोने-जागने के साथ लयबद्ध हो तो उसे मेरे 28 व्यक्तिनिष्ठ दिनों के गुज़रने के बाद आना चाहिए। दूसरी ओर अगर वह तापमान चक्र के अनुसार चलता हो तो उसे 28 कैलेण्डर दिन (चौबीस घण्टों वाले) के बाद आना चाहिए। मेरे साथ दूसरी बात हुई। मुझे 28 कैलेण्डर दिनों के बाद ही 'महीना' आया। मतलब कि वह सोने-जागने के चक्र पर निर्भर नहीं था।

एक और मज़ेदार बात यह हुई कि बाहर निकलने पर बाहर के सामाजिक परिवेश से लगभग तुरन्त ही पटरी बैठने लगी। मेरे सोने-जागने के चक्र ने कक्ष से निकलने के दूसरे दिन से ही लगभग चौबीस घंटे का अन्तराल फिर से हासिल कर लिया। आप समझ सकते हैं कि सामाजिक इशारों का इंसान की चौबीस घण्टों की जैविक घड़ी पर कितना ज़ोरदार असर पड़ता है। चूंकि एक ऐसी महिला उम्मीदवार का मिलना बहुत मुश्किल होता, जिसका कि सोने जागने का चक्र 48 घण्टों का हो, जिसके दो ऐसे समय चक्रों के बीच की तालमेल एकाकीपन में टूट जाती हो और जिसका माहवारी चक्र नियमित रूप से 28 दिनों का हो, इसलिए ऐसे प्रयोग दोहराना काफी कठिन होता है। पर हम इस प्रयोग के अपने नतीजों की जांच करना चाहते थे। एक ही तरीका बचता था वही प्रयोग दोहराने का – कि उसी उम्मीदवार को (यानी मुझे!) फिर से चुना जाए। हमारे शरीर के कुछ सालाना चक्र (साल भर बाद दोहराए जाने वाले) भी होते हैं। इनसे और मौसमी बदलावों के असर से बचने के लिए यह तय किया गया कि प्रयोग साल के उन्हीं महीनों में किया जाए जिनमें पहली बार किया गया था, पर दो साल बाद।

मैंने फिर कर दिखाया!

तो ज़िन्दगी में दूसरी बार मई 1991 में मैं एकाकी कक्ष की मेहमान बनी। सबकुछ पहले जैसा ही था सिवाय इसके कि दो साल गुज़र चुके थे और अब मेरे पास ज़्यादा ज़िम्मेदारी वाले काम थे करने को। जैसे मुझे बहुत कुछ पढ़ना था, चूहों के चौबीस घण्टों के समयचक्र पर मैंने इकट्ठे किए आंकड़ों का विश्लेषण करना था, और भी ऐसे बहुत से काम थे। सो इस बार मैंने अपना समय रचनात्मक तरीके से बिताया। सिर्फ एक सावधानी बरतनी थी मुझे कि मेरे पहले प्रयोग के नतीजों की जानकारी मेरी सोच को प्रभावित न करे। इस बार मेरा प्रवास सचमुच ही समय से पहले रोक दिया गया,

32 कैलेण्डर दिनों के बाद। इसके पीछे एक अच्छा-खासा कारण भी था। मेरे बंकर में प्रवास के बीच राजीव गांधी की हत्या हो गई और बाहर परिस्थितियां काफी उथल-पुथल हो गई। मैं शायद दुनिया के उन बहुत ही कम लोगों में से हूं जिन्होंने यह खबर समय पर नहीं सुनी। ऐसे में बाहर के लोगों को न सिर्फ मेरी ज़रूरतें पूरी करने में दिक्कतें पेश आ रही थीं, बल्कि मेरी इस अज्ञानता के कारण एक और समस्या आ खड़ी हुई।

दरअसल वे मुझे हर रोज़ मेरे व्यक्तिनिष्ठ दिन (एक दिन में लगभग 48 घण्टे) के मुताबिक अखबार भेजा करते थे। मेरे व्यक्तिनिष्ठ दिन के हिसाब से मैं कैलेण्डर के दिन (चौबीस घण्टों वाले) खो रही थी और पीछे चल रही थी। इसलिए बाहर से नियंत्रण सम्हाले लोगों के लिए, बिना मुझ तक इस हादसे की खबर सुनाए भी, कुछ दिनों तक अखबार पहुंचाते रहना सम्भव था। 2 जून 1991 को मेरे लिए एकाकी कक्ष में तारीख थी 22 मई 1991 की। उस दिन के अखबार में राजीव गांधी हत्याकांड की खबर थी और बाहर के लोग यह तय नहीं कर पाए कि मैं यह सदमा अकेले सह पाऊंगी कि नहीं। और उन्होंने उस दिन मुझे बाहर आने को कहा। इस हादसे के कारण, ज़ाहिर है एकाकी कक्ष से बाहर आने का मेरा दूसरा अनुभव पहले के मुकाबिले बहुत फर्क था। सचमुच यह खबर मेरे लिए एक बड़ा झटका थी। कक्ष से बाहर आकर भी प्रयोग के बाद के आंकड़ों के लिए मुझे सॉलीकॉर्डर पहने रहना होता था। इस बार एक नई मुसीबत सामने आई। इस सॉलीकॉर्डर में एक छोटी-सी डिब्बी में दो तार लगे होते हैं और जब इसे पहना जाए तो यह आसानी से दिखती रहती है। ज़रा कल्पना कीजिए कि इस हादसे के कुछ ही दिनों बाद कोई लड़की एक ऐसी डिब्बी पहनकर घूमती नज़र आए जिसमें से दो तार निकल रहे हों तो क्या होगा!

दूसरे प्रयोग के नतीजों ने हमारे पहले प्रयोग को सही करार दिया क्योंकि इस बार भी हमें तकरीबन वही आंकड़े मिले थे। इस बार मेरे सोने-जागने का चक्र करीब 46.6 घण्टों का और तापमान चक्र कोई 24.4 घण्टों का था। इन दोनों के बीच लय 9वें व्यक्तिनिष्ठ दिन टूटी और ठीक 28वें कैलेण्डर दिन मुझे 'महीना' आया। इससे हमारे पहले प्रयोग के नतीजे सही साबित हुए। इस बार भी बाहर आने पर सामाजिक परिस्थितियों से तालमेल पहले की तरह ही हुआ।

एक और बात जो इन दो प्रयोगों और कुछ पहले के प्रयोगों से साबित हुई, वह उम्मीदवारों के दो घण्टे के अन्तराल के अंदाज़ और सोने-जागने

के चक्र के बीच के सीधे संबंध के बारे में थी। जिन उम्मीदवारों की सोने-जागने की लय चौबीस घण्टे की थी वे दो घण्टे बीत जाने का अंदाज़ा लगभग सही-सही लगाते थे। जबकि मेरे जैसे उम्मीदवार, जिनके चक्र में 48 घण्टे होते हैं, लगभग छह घण्टे के समय को दो घण्टे बताते हैं। यानी बाहर बैठे लोग उम्मीदवार के पहले दो घण्टे बीतने के संकेत को देखकर यह अंदाज़ा लगा सकते हैं कि वह कितनी देर तक जागने वाला है।

इस सब से क्या हासिल?

अब शायद हमें रुककर यह भी सोच लेना चाहिए कि ये सब प्रयोग क्यों किए जा रहे हैं। ये अध्ययन ऐसे लोगों की मदद कर सकते हैं जिनकी समय चक्रों के बीच की लय किसी न किसी वजह से टूट गई हो। जैसे पाली (शिफ्ट) में काम करने वाले लोग, अन्तरिक्ष यात्री, या ऐसे लोग जो समय-क्षेत्रों (Time Zones) के पार सफर करते हैं। अगर ऐसे लोगों के सोने-जागने के चक्र को एकाकीपन में मापा जाए तो यह बताया जा सकता है कि कौन कितनी आसानी से इन परिस्थितियों से जूझ सकता है। उनके काम का समय उनकी अधिकतम कार्यक्षमता के समय के हिसाब से प्लान किया जा सकता है। जो लोग एक देश से दूसरे देश सफर करते हैं और जेट-लैग भुगतते हैं उन्हें भी ऐसे अध्ययन मदद कर सकते हैं कि वे अपने आपको कैसे अलग-अलग जगह के समय के हिसाब से अनुकूलित करें।

एल. गीता – इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ सायंसेज़, बंगलौर के 'सेंटर फॉर इकोलोजिकल सायंसेज़' में कार्यरत। मधुमक्खियों, चूहों और मनुष्य के अंतर्निहित समय चक्रों पर शोध उनकी प्रमुख रुचि का विषय रहा है। अनुवादः टुलटुल विश्वास।

टुलटुल विश्वास एकलव्य द्वारा प्रकाशित बाल विज्ञान पत्रिका चकमक में काम करती हैं।

यह लेख *रेसोनेन्स* के मार्च 1996 अंक से लिया गया है।

कौन भाषा, कौन बोली...?

● रमाकान्त अग्निहोत्री

"अध्यापक स्वयं को शुद्ध व मानकीकृत भाषा का रखवाला मान लेते हैं। . . . प्रश्न समझ व दृष्टिकोण का है। पहली बात – बच्चा जिस भाषा को लेकर स्कूल आता है वह पूर्णरूप से व्याकरण युक्त है। दूसरी बात – उसकी भाषा उसकी शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाई यह एक राजनैतिक, सत्तागत प्रश्न है।"

हर सामान्य व्यक्ति अपनी भाषा खूब अच्छी तरह से बोलता व समझता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि हर व्यक्ति यह समझे कि वह भाषा के बारे में काफी कुछ जानता है। असल में सच तो यही है कि हर व्यक्ति अपनी भाषा के बारे में बहुत कुछ जानता है। लेकिन इस भाषागत ज्ञान के बारे में आम आदमी अक्सर सचेत नहीं होता। वास्तव में उस ज्ञान के बारे में उसके लिए कुछ भी विशेष कहना संभव नहीं हो पाता। यदि यह कहा जाए कि आपकी अपनी भाषा का पूर्ण व्याकरण आपके पास है – आपके दिमाग में – तो शायद कुछ अटपटा-सा लगे। लेकिन यह बिल्कुल सच है। दूसरी तरफ भाषा के बारे में जो बातें लोग अक्सर कहते हैं वे एकदम निराधार अवधारणाओं से जुड़ी रहती हैं। इन निराधार अवधार-

णाओं के कारण काफी सामाजिक, मानसिक व शैक्षिक नुकसान होता है। यदि हम सब भाषा की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास करें तो शायद इस नुकसान से बचने का कोई साधन निकले।

व्याकरण की समझ कितनी

अपनी भाषा के बारे में आपका ज्ञान पूर्ण एवं त्रुटिरहित है। अपनी भाषा बोलने व समझने में आप कभी गलती नहीं करते। यदि करें तो तुरन्त उसमें सुधार कर लेते हैं। इसी तरह यदि कोई दूसरा आपकी भाषा बोलने में गलती करता है तो आप उसे तुरन्त पकड़ लेते हैं।

आप नित नए-नए वाक्य बोल व समझ सकते हैं। यही नहीं आपको यह भी ज्ञात है कि किस सामाजिक संदर्भ में कैसी भाषा उचित रहेगी। लेकिन इस ज्ञान के बारे में मुक्त रूप से चर्चा करना केवल भाषाविदों तक ही सीमित रह गया। और भाषाविद् जिस भाषा में बात करते हैं वह आम आदमी की समझ में आती नहीं।

उदाहरण के लिए, यह तो हर हिन्दी भाषी जानता है कि –

गीता खाना खाता है।

ठीक वाक्य नहीं है। कुछ सोचकर शायद वह यह भी बता दे कि 'गीता' स्त्रीलिंग है इसलिए क्रिया पुल्लिंग नहीं हो सकती। (गो कि भारत में ही ऐसी अनेक भाषाएं हैं जिनमें कर्ता के पुल्लिंग या स्त्रीलिंग होने से क्रिया पर कोई असर नहीं पड़ता – अंग्रेज़ी भी ऐसी ही भाषा है)। लेकिन निम्न दो वाक्यों में यह नियम लागू नहीं होता।

मोहन ने खाना खाया।

गीता ने खाना खाया।

'मोहन' पुल्लिंग है व 'गीता' स्त्रीलिंग फिर भी दोनों ने 'खाया'। यह कहना कि –

गीता ने खाना खाई।

गलत है। इसी तरह यदि आप दुविधा में पड़े हिन्दी भाषी का ध्यान निम्न दो वाक्यों –

मोहन ने रोटी खाई।

गीता ने रोटी खाई।

की ओर ले जाएं, तो शायद कुछ कठिनाई से वह यह बता पाए कि यदि कर्ता के सामने 'ने' आ जाए तो क्रिया कर्म से मेल खाती है। सो कर्ता कोई भी हो – पुल्लिंग या स्त्रीलिंग – पर 'ने' आने पर

.... *खाना खाया।* (खाना पुल्लिंग है)

.... *रोटी खाई।* (रोटी स्त्रीलिंग है आदि)

लेकिन निम्न दो वाक्यों के बारे में हिन्दी भाषी क्या कहेगा!

मोहन ने गीता को मारा।

गीता ने मोहन को मारा।

ऐसी ही समस्याओं को लेकर भाषा वैज्ञानिक भाषा से जूझते रहते हैं। अब देखिए नाः

गीता मोहन को मारती है।

तो सही है लेकिन

गीता ने मोहन को मारी।

ठीक नहीं है।

वास्तव में जैसे ही एक हिन्दी भाषी ऐसा कोई वाक्य सुनता है उसे मालूम होता है कि कोई अहिन्दी भाषी हिन्दी बोलने का प्रयास कर रहा है। साफ है कि हर व्यक्ति अपनी भाषा का व्याकरण पूरी तरह से जानता है। लेकिन उस व्याकरण का अध्ययन करना व उसके बारे में बातचीत कर सकना बिल्कुल अलग बात है; कठिन बात है। इसलिए हमारे यहां कहते हैं – मोक्षार्थे व्याकरणमधितव्यम्।

खैर हमें तो उस ज्ञान के बारे में बातचीत करनी थी जिसका आधार अवैज्ञानिक व बेबुनियाद अवधारणाएं हैं। हर सामान्य व्यक्ति इस तरह के ज्ञान पर आधारित अनेक विश्वास या मान्यताएं पाल लेता है, निर्णय ले लेता है, लोगों को अलग श्रेणियों में बांट लेता है और कुछ से घृणा व कुछ से प्यार करने लगता है।

इन निराधार मान्यताओं को समझंना आवश्यक है। बिना समझे इनसे छुटकारा पाना संभव नहीं।

कौन भाषा कौन बोली

एक मुख्य मसला है भाषा व बोली का। किसी भी सामान्य व्यक्ति से पूछकर देखिए, वह अत्यधिक विश्वास से आपको भाषा व बोली में अन्तर बताने लगेगा। कहेगा, "भाषा का व्याकरण होता है, बोली का नहीं। भाषा की लिपि होती है, बोली की नहीं। भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है जबकि बोली का स्थानीय। भाषा मानकीकृत व परिमार्जित होती है, बोली नहीं। जिसका प्रयोग साहित्य, पत्राचार, दफ्तरों, अदालतों आदि में हो वह भाषा और जो बोलचाल के लिए इस्तेमाल हो वह बोली। भाषा में शुद्ध -अशुद्ध का प्रश्न उठता है, बोली में सब चलता है आदि, आदि।"

वास्तव में इस तरह के सभी तर्क गलत हैं, समाज के लिए अत्यधिक हानिकारक हैं। भाषाई दृष्टि से भाषा व बोली में कोई अन्तर नहीं। दोनों का व्याकरण होता है। दोनों नियमबद्ध हैं। किसको भाषा कहा जाएगा और किसको बोली यह एक सामाजिक प्रश्न है; राजनैतिक प्रश्न है। सत्ताधारी व पैसे वाले लोग अक्सर जो बोली बोलते हैं, वह भाषा कहलाने लगती है। उसी के व्याकरण व शब्दकोष लिखे जाते हैं। उसी में साहित्य लिखा जाता है। स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बनकर वही बोली मानकीकृत भाषा बन बैठती

है। उसी से मिलते-जुलते, बात-चीत करने के अन्य तरीके उस 'भाषा की बोलियां' कहलाने लगते हैं। भाषा व समाज के इस रिश्ते को समझना आवश्यक है।

शायद यह ठीक ही कहा गया है कि भाषा केवल एक सशस्त्र बोली है। मुख्य प्रश्न वास्तव में दृष्टिकोण का है। एक गरीब बच्चे की भाषा को एक मानकीकृत भाषा के मापदंड से निरन्तर नापना कहां तक जायज़ है?

एक ही मापदड क्यों?

व्याकरण के प्रश्न को लीजिए। हिन्दी का अपना व्याकरण है। लेकिन ब्रज, अवधी व मैथिली का भी अपना व्याकरण है, जो हिन्दी से कदाचित अलग है। हिन्दी-व्याकरण को मापदंड मानकर ब्रज के व्याकरण को क्यों देखा जाए? सदियों से लोग संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि को आधार मानकर संसार की सभी भाषाओं में शब्दों के आठ कारकगत रूप तलाश करते रहे हैं। हिन्दी के हर व्याकरण में आपको संस्कृत की ही तरह आठ कारक रूप दिखाने का प्रयत्न रहेगा। लेकिन वास्तव में हिन्दी में तीन ही कारकों के अनुसार शब्द परिवर्तन होता है यथा:

'लड़का' आदि

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	लड़का	लड़के
कर्म/अन्य	लड़के	लड़कों
संबोधन	हे लड़के!	हे लड़को!

'किताब' आदि

कर्ता	किताब	किताबें
कर्म/अन्य	किताब	किताबों
संबोधन	हे किताब!	हे किताबो!

हिन्दी की कारक व वचन संरचना समझने के लिए इससे अधिक आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार हिन्दी व्याकरण से अन्य भाषाओं को नापना उचित नहीं है। हिन्दी का -

नन्द का नन्दन कदम्ब के पेड़ के नीचे
धीरे-धीरे मुरली बजाता है।

ब्रज भाषा में -

नन्द को नन्दन कदम के तरु तर धीरे
धीरे मुरली बजावै।

हो जाएगा। और मैथिल — कोकिल विद्यापति ने इसे यूं कहा;

नन्दक नन्दन कदमक तरुतर धीरे धीरे
*मुरली बजाव। ***

मैथिली का नियम है कि 'नन्द' व 'नन्दन' में जो संबंध है वह 'क' के प्रयोग से दिखाया जाएगा; ब्रज में वही 'को' के व हिन्दी में वह 'का' के प्रयोग से। तो:

हिन्दी : *नन्द का नन्दन*
ब्रज : *नन्द को नन्दन*
मैथिली : *नन्दक नन्दन*

यह कहना कि ब्रज या मैथिली

भाषा को सदैव 'नन्द का नन्दन' ही कहना चाहिए उचित न होगा। ऊपर के उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि कब हिन्दी-ब्रज्-मैथिली एक दूसरे से घुल मिल जाएंगी और कब अपना-अपना स्वतंत्र रूप दिखाएंगी, यह कहना भी कोई आसान काम नहीं।

आप मैथिली, सिंधी, कोंकणी, नेपाली या मणिपुरी को कब 'भाषा' का दर्जा देना चाहते हैं, यह एक राजनैतिक प्रश्न है, भाषाई नहीं।

सत्ता से जुड़ा सवाल

व्याकरण को लेकर शुद्ध-अशुद्ध का प्रश्न भी बार-बार सामने आता है। विशेषकर अध्यापक स्वयं को शुद्ध व मानकीकृत भाषा का रखवाला मान लेते हैं। मैंने पहले भी कहा कि प्रश्न समझने व दृष्टिकोण का है। पहली बात – बच्चा जिस भाषा को लेकर स्कूल आता है वह पूर्णरूप से व्याकरण युक्त है। दूसरी बात – उसकी भाषा उसकी शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाई यह एक राजनैतिक, सत्तागत प्रश्न है। तीसरी बात – मानकीकृत भाषा के सीखने के प्रयास में जो अशुद्धियां बच्चा करता है वे निराधार या बेतरतीब नहीं होतीं, उनकी अपनी संरचना होती है। चौथी बात – किसी अध्यापक के शुद्ध करने से बच्चे अपनी गलती एकदम सुधार नहीं लेते। गल्तियां समय आने पर ही सुधरती हैं। पांचवी बात – कोई भी बच्चा, कोई भी भाषा (पहली, दूसरी या दसवीं) बिना 'गलतियां' किए नहीं सीखता।

साहित्य के प्रश्न को ही लीजिए। अक्सर कहा जाता है कि जिसमें शिष्ट-साहित्य लिखा जाए वह भाषा, शेष उस भाषा की बोलियां। आम आदमी आज यही समझता है कि खड़ी बोली हिन्दी ही मानकीकृत भाषा है, माहित्य उसी में लिखा जाता है; अखबारों, दफ्तरों आदि में यही प्रयोग होती है। ब्रज, अवधी, मैथिली आदि हिन्दी की बोलियां हैं।

कैसी विडम्बना है – अवधी, जिसमें तुलसी कृत रामचरित मानस लिखा गया; ब्रज, जिसमें सूरदास ही नहीं अपितु अनेक हिन्दु व मुसलमान लेखकों ने महान साहित्य की रचना की व मैथिली, जिसमें विद्यापति ने लिखा – सब आज हिन्दी की माताएं न होकर उसकी बोलियां हो गईं। जब राजनीति व सत्ता का केन्द्र कन्नौज था, तो साहित्य की शिष्ट भाषा थी 'अपभ्रंश'। खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि का जो भी रूप रहा हो, उसकी बोलियां कहलाईं। इसी तरह जब राजनैतिक केन्द्र ब्रज-क्षेत्र बना तो शिष्ट साहित्य की भाषा 'ब्रज' हो गई और

चर्चा के लिए, देखिए, किशोरीदास बाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन 1958, पृष्ठ 582)

दिल्ली, मेरठ की खड़ी बोली उसकी बोली कहलाई। शासन व सत्ता का केन्द्र दिल्ली, मेरठ हुआ तो ब्रज, अवधी आदि हिन्दी की बोलियां कहलाने लगीं। वही बात कि सवाल दरअसल भाषा व राजनीति के संबंध को समझने का है। उसको समझकर एक ऐसा सजग दृष्टिकोण बनाने का है जो वैज्ञानिक व संरचनात्मक हो। इसलिए साहित्य के आधार पर भाषा व बोली में अन्तर संभव नहीं।

कोई भी लिपि, कोई भी भाषा

लिपि के प्रश्न को लीजिए। अक्सर लोग ऐसे बात करते हैं जैसे भाषा व लिपि का कोई जन्मजात संबंध हो। वास्तव में संसार की सभी भाषाएं एक ही लिपि में लिखी जा सकती हैं। और एक ही भाषा को लिखने के लिए आप संसार की सभी लिपियों का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी व अंग्रेज़ी भाषा व देवनागरी व रोमन लिपि को लीजिए:

हिन्दी (देवनागरी):

मोहन खेल रहा है।

हिन्दी (रोमन):

mohan khel rahaa hai.

अंग्रेज़ी (रोमन):

Mohan is playing.

अंग्रेज़ी (देवनागरी):

मोहन इज़ प्लेइंग।

भारत की अनेक भाषाएं देवनागरी में लिखी जाती हैं व एक संस्कृत को लिखने के लिए भारत में ही अनेक लिपियों का प्रयोग होता है। ऐसा भी नहीं है कि लिपि होने से ही किसी भाषा में साहित्य की संभावना होती है। ऋगवेद जैसे साहित्य के लिए सदियों किसी लिपि की आवश्यकता नहीं पड़ी। सारे भारत में फिर भी ऋगवेद का वाचन एक ही तरह से होता है। गांव-गांव में *रामचरित मानस* नित गाया, सुना जाता है – लिपि की कोई आवश्यकता नहीं। भाषा प्राचीन है; लिपि अभी कल का आविष्कार। लिपि होने न होने से भाषा-बोली में अन्तर करना संभव नहीं। आप कुछ दोस्त मिलकर अपनी भाषा के लिए बड़ी आसानी से अपनी एक अलग लिपि बना सकते हैं। उसे कितना राजनैतिक समर्थन मिलेगा वह एक अलग बात है। संथाली आज कई लिपियों में लिखी जाती है – देवनागरी, रोमन, बंगला, उड़िया व ओल चिक्की। इनमें से कौन-सी लिपि मानकीकृत हो जाएगी यह एक राजनैतिक प्रश्न है। अभी द्वन्द्व जारी है।

विस्तृत क्षेत्र व व्यापक प्रयोग की खूब ठहरी। बार बार कहो कि हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत है, प्रयोग व्यापक। जगह-जगह पोस्टर लगाओ। अखबारों में नित इश्तहार दो, रेडियो व टी.वी. पर प्रयोग करो ओर न जाने क्या-

क्या। बातों-बातों में हिन्दी को 'संवैधानिक राजभाषा' से 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा दे दो। शिक्षा का माध्यम हिन्दी कर दो। और फिर कहो – लो भाई हिन्दी हुई भाषा व ब्रज, अवधी, मैथिली, बुन्देली, भोजपुरी आदि उसकी बोलियां। इन 'बोलियों' को बोलने वालों की अपार संख्या को हिन्दी में जमा कर दो और फिर कहो कि देखो, करोड़ों लोग हिन्दी बोलते हैं, कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक। थोड़ा धीरज रखकर ध्यान से सोचिए – हिन्दी आखिर कहां बोली जाती है? मानकीकृत हिन्दी का प्रयोग कहां-कहां होता है?

क्या आप या आपके दोस्त घर पर या आपस में हिन्दी बोलते हैं या आप भोजपुरी, अवधी, मैथिली, मघई, बुन्देली, ब्रज आदि-आदि बोलते हैं। मानकीकृत हिन्दी शायद मेरठ, इलाहाबाद व बनारस के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। क्या चम्बा व हमीरपुर (हिमाचल), रोहतक व भिवानी (हरियाणा), जैसलमेर व सवाई माधोपुर (राजस्थान), छपरा व बलिया (बिहार), छिंदवाड़ा व रायपुर (मध्यप्रदेश) में मानकीकृत हिन्दी बोली जाती है।

मेरी हिन्दी में निम्न प्रयोग देखकर मेरे कुछ साथी अक्सर हंसते हैं, लेकिन जब उनके अपने बच्चे वही प्रयोग करते हैं तो लाचार से हो जाते हैं:

मैंने बाज़ार जाना है।
मेरे को काम है।
मुझे एक कौली दे दो।
ज़रा सब्जी को छेड़ा दे देना।

जो पंजाबी कहकर मेरा मज़ाक उड़ाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजनीति व सत्ता का केन्द्र अब दिल्ली है। हिन्दी भी यहीं की चलेगी। या फिर लाखों पंजाबी जो अपनी मातृभाषा हिन्दी बताते हैं या लाखों ऐसे लोग जिनकी मातृभाषा हिन्दी गिन ली जाती है – हिन्दी बोलने वालों की संख्या में से कम कर देने चाहिए।

साफ है कि लिपि, व्याकरण, साहित्य, विस्तृत क्षेत्र व व्यापक प्रयोग आदि के आधार पर भाषा व बोली में अन्तर करना संभव नहीं। फिर भी यह अन्तर क्यों किया जाता है? और इतनी गहराई से किया जाता है कि हम 'हिन्दी' को भाषा व 'ब्रज' या 'बुन्देली' को बोली कहने में कुछ भी झिझक महसूस नहीं करते। हिन्दी को एक मानकीकृत भाषा का दर्जा देने के लिए व ब्रज, अवधी आदि को उसकी बोलियां बनाने के लिए आपके चारों ओर निरन्तर प्रयास हो रहे हैं; उन्हें ज़रा गौर से समझने का प्रयास करें।

रमाकान्त अग्निहोत्री – दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग में प्राध्यापक।

दिल्ली, मेरठ की खड़ी बोली उसकी बोली कहलाई। शासन व सत्ता का केन्द्र दिल्ली, मेरठ हुआ तो ब्रज, अवधी आदि हिन्दी की बोलियां कहलाने लगीं। वही बात कि सवाल दरअसल भाषा व राजनीति के संबंध को समझने का है। उसको समझकर एक ऐसा सजग दृष्टिकोण बनाने का है जो वैज्ञानिक व संरचनात्मक हो। इसलिए साहित्य के आधार पर भाषा व बोली में अन्तर संभव नहीं।

कोई भी लिपि, कोई भी भाषा

लिपि के प्रश्न को लीजिए। अक्सर लोग ऐसे बात करते हैं जैसे भाषा व लिपि का कोई जन्मजात संबंध हो। वास्तव में संसार की सभी भाषाएं एक ही लिपि में लिखी जा सकती हैं। और एक ही भाषा को लिखने के लिए आप संसार की सभी लिपियों का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी व अंग्रेज़ी भाषा व देवनागरी व रोमन लिपि को लीजिए:

हिन्दी (देवनागरी):
मोहन खेल रहा है।
हिन्दी (रोमन):
mohan khel rahaa hai.
अंग्रेज़ी (रोमन):
Mohan is playing.
अंग्रेज़ी (देवनागरी):
मोहन इज़ प्लेइंग।

भारत की अनेक भाषाएं देवनागरी में लिखी जाती हैं व एक संस्कृत को लिखने के लिए भारत में ही अनेक लिपियों का प्रयोग होता है। ऐसा भी नहीं है कि लिपि होने से ही किसी भाषा में साहित्य की संभावना होती है। ऋगवेद जैसे साहित्य के लिए सदियों किसी लिपि की आवश्यकता नहीं पड़ी। सारे भारत में फिर भी ऋगवेद का वाचन एक ही तरह से होता है। गांव-गांव में *रामचरित मानस* नित गाया, सुना जाता है – लिपि की कोई आवश्यकता नहीं। भाषा प्राचीन है; लिपि अभी कल का आविष्कार। लिपि होने न होने से भाषा-बोली में अन्तर करना संभव नहीं। आप कुछ दोस्त मिलकर अपनी भाषा के लिए बड़ी आसानी से अपनी एक अलग लिपि बना सकते हैं। उसे कितना राजनैतिक समर्थन मिलेगा वह एक अलग बात है। संथाली आज कई लिपियों में लिखी जाती है – देवनागरी, रोमन, बंगला, उड़िया व ओल चिक्की। इनमें से कौन-सी लिपि मानकीकृत हो जाएगी यह एक राजनैतिक प्रश्न है। अभी द्वन्द्व जारी है।

विस्तृत क्षेत्र व व्यापक प्रयोग की खूब ठहरी। बार बार कहो कि हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत है, प्रयोग व्यापक। जगह-जगह पोस्टर लगाओ। अखबारों में नित इश्तहार दो, रेडियो व टी.वी. पर प्रयोग करो ओर न जाने क्या-

क्या। बातों-बातों में हिन्दी को 'संवैधानिक राजभाषा' से 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा दे दो। शिक्षा का माध्यम हिन्दी कर दो। और फिर कहो – लो भाई हिन्दी हुई भाषा व ब्रज, अवधी, मैथिली, बुन्देली, भोजपुरी आदि उसकी बोलियां। इन 'बोलियों' को बोलने वालों की अपार संख्या को हिन्दी में जमा कर दो और फिर कहो कि देखो, करोड़ों लोग हिन्दी बोलते हैं, कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक। थोड़ा धीरज रखकर ध्यान से सोचिए – हिन्दी आखिर कहां बोली जाती है? मानकीकृत हिन्दी का प्रयोग कहां-कहां होता है?

क्या आप या आपके दोस्त घर पर या आपस में हिन्दी बोलते हैं या आप भोजपुरी, अवधी, मैथिली, मघई, बुन्देली, ब्रज आदि-आदि बोलते हैं। मानकीकृत हिन्दी शायद मेरठ, इलाहाबाद व बनारस के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। क्या चम्बा व हमीरपुर (हिमाचल), रोहतक व भिवानी (हरियाणा), जैसलमेर व सवाई माधोपुर (राजस्थान), छपरा व बलिया (बिहार), छिंदवाड़ा व रायपुर (मध्यप्रदेश) में मानकीकृत हिन्दी बोली जाती है।

मेरी हिन्दी में निम्न प्रयोग देखकर मेरे कुछ साथी अक्सर हंसते हैं, लेकिन जब उनके अपने बच्चे वही प्रयोग करते हैं तो लाचार से हो जाते हैं:

मैंने बाज़ार जाना है।
मेरे को काम है।
मुझे एक कौली दे दो।
ज़रा सब्जी को छेड़ा दे देना।

जो पंजाबी कहकर मेरा मज़ाक उड़ाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजनीति व सत्ता का केन्द्र अब दिल्ली है। हिन्दी भी यहीं की चलेगी। या फिर लाखों पंजाबी जो अपनी मातृभाषा हिन्दी बताते हैं या लाखों ऐसे लोग जिनकी मातृभाषा हिन्दी गिन ली जाती है – हिन्दी बोलने वालों की संख्या में से कम कर देने चाहिए।

साफ है कि लिपि, व्याकरण, साहित्य, विस्तृत क्षेत्र व व्यापक प्रयोग आदि के आधार पर भाषा व बोली में अन्तर करना संभव नहीं। फिर भी यह अन्तर क्यों किया जाता है? और इतनी गहराई से किया जाता है कि हम 'हिन्दी' को भाषा व 'ब्रज' या 'बुन्देली' को बोली कहने में कुछ भी झिझक महसूस नहीं करते। हिन्दी को एक मानकीकृत भाषा का दर्जा देने के लिए व ब्रज, अवधी आदि को उसकी बोलियां बनाने के लिए आपके चारों ओर निरन्तर प्रयास हो रहे हैं; उन्हें ज़रा गौर से समझने का प्रयास करें।

रमाकान्त अग्निहोत्री – दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग में प्राध्यापक।

क्यों छोड़ा स्कूल 'ओटा' ने

जापान में लगभग सभी बच्चे स्कूल जाते हैं। लेकिन इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो स्कूली व्यवस्था से तंग आकर बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं। इन्हें 'इनकारी बच्चे' के नाम से जाना जाता है। इन बच्चों को खासी सामाजिक और मानसिक प्रताड़ना का सामना करना पड़ता है। ऐसे ही एक बच्चे **'ओटा माल्कु'** ने अपने स्कूल के अनुभवों और अपने जैसे ही दूसरे बच्चों के बारे में लिखा है। उसके लेख का *यमुना सनी* द्वारा संपादित अंश हम यहां दे रहे हैं।

जापान में बच्चों का स्कूल जाना काफी स्वाभाविक है। वहां करीब सभी बच्चे स्कूल जाते हैं। लेकिन धीरे-धीरे कुछ बच्चों के लिए स्कूल एक ऐसी जगह बन जाता है जहां जाना उनके लिए नामुमकिन-सा हो जाता है – और वे स्कूल जाना बंद कर देते हैं। इन्हें कहते हैं 'इनकारी बच्चे' – जिन्होंने स्कूल जाने से इनकार कर दिया। शिक्षा मंत्रालय का अंदाज़ा है कि, जापान में अभी ऐसे करीब 65,000 बच्चे हैं और यह आंकड़ा तेज़ी से बढ़ रहा है।

मैं ऐसे ही 'इनकारी बच्चों' में से एक हूं। मैं स्कूल से नफरत क्यों करने लगा, और मैंने स्कूल जाना क्यों छोड़ दिया, यह समझने के लिए मेरे अतीत को थोड़ा कुरेदना पड़ेगा; और खासतौर से उस हिस्से को जब मैं प्राथमिक स्कूल के छठवें साल में था और मेरी उम्र बारह वर्ष थी।

अपने शिक्षक का रवैया मेरी परेशानी का बहुत बड़ा कारण था। वो हमें उपहासपूर्ण तरीके से देखते थे। अभी मैं सोलह साल का हूं; तो स्वाभाविक है कि

मेरी क्षमताएं और समझ मुझसे बड़े और अनुभवी लोगों जितनी विकसित नहीं हो सकतीं। इस वजह से मेरी उपेक्षा की जाए, ये तो काफी तर्कहीन बात है न।

इसलिए स्कूल में उस शिक्षक के संपर्क में रहना मेरे लिए बड़ा ही पीड़ादायक था। स्कूल में मुझे ऐसा लगता मानो मेरा गला घुट रहा हो। अंततः स्कूल जाना शुरू करने के करीब साढ़े तीन महीने बाद मुझे काफी गंभीरता से लगने लगा, 'मुझे स्कूल जाने से घृणा हो गई है।' उसी दिन शिक्षक ने मुझे मारा। मैंने उन्हें पलटकर जवाब दिया तो उन्होंने मुझे खींच कर तमाचा मारा। उसी रोज़ मैंने पक्की तरह सोच लिया कि मुझे इस जगह से नफरत है। कुछ दिनों बाद गर्मी की छुट्टियां शुरू हो गईं। तकरीबन डेढ़ महीने मैं स्कूल से दूर रहा। उसके बाद स्कूल खुला, लेकिन मैं नहीं गया – और इस तरह मैं भी 'इनकारी बच्चों' की जमात में शामिल हो गया।

गैरों का भय

शुरू में पहले दो हफ्ते तो मैं घर से बाहर निकलने का साहस ही नहीं जुटा पाया। मुझे समझ नहीं आता था कि दिन भर मैं क्या करूं। बाहर सड़क पर भी मुझे लोगों से मिलने में डर लगने लगा।

जापान में छह और उससे बड़ी उम्र के सभी बच्चे आमतौर पर स्कूल जाते हैं। जो बच्चे वास्तव में बुद्धिमान हैं और ऐसे बच्चे जिनके माता-पिता के पास पैसा है, वे सब प्राइवेट स्कूलों में जाते हैं। लेकिन मेरे जैसे बच्चों को इच्छा न होते हुए भी सरकारी स्कूलों में प्रवेश लेना पड़ता है। हमारे यहां एक आम धारणा है कि जो बच्चे स्कूल नहीं जाते और स्नातक की डिग्री नहीं ले पाते वे एक प्रतिष्ठित जीवन नहीं जी सकते।

'स्कूल न जाना मानो एक अवांछनीय कार्य है, अतः मेरी ज़िंदगी एक घृणित इंसान की तरह व्यतीत होगी।' ऐसा सब सोचते रहने के कारण मैं करीब दो हफ्ते बाद ही घर से बाहर अपना पहला कदम निकाल पाया, और वह भी अंधेरा होने के बाद। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था मानो लोगों की निगाहें मुझे ही घूर रही हों। बहुत मुश्किल समय था वो, जब मैं अपने आप को खुद भी स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

ऐसी कई घटनाएं हैं जब 'इनकारी बच्चों' को पीटा गया हो, कइयों की तो जान भी चली गई है। और यह सब हुआ है उन प्राइवेट संस्थाओं में जो 'इनकारी बच्चों' के स्कूल छोड़ने की समस्या के हल के लिए बनाई गई हैं। कई मामलों में तो पूर्वाग्रहों के चलते बच्चे अपना मानसिक संतुलन तक खो बैठे हैं। यह धारणा कि 'इनकारी बच्चे' बेकार होते हैं, न सिर्फ पालकों और शिक्षकों में बल्कि बच्चों में भी झलकती है।

'इनकारी बच्चों' के लिए एक जगह

मुझे स्कूल छोड़े हुए चार साल होने को आए हैं। इनमें से तीन साल मैं एक संस्था 'टोक्यो शूल' में रहा। यहां टोकियो के लगभग डेढ़ सौ बच्चे – जिनमें से

ज़्यादातर 'इनकारी' हैं — इकट्ठे होते हैं और कुछ-कुछ सीखते हैं। 'शूल' सोमवार से लेकर शुक्रवार तक सुबह दस बजे से देर रात तक खुला रहता है। यहां आने वाले बच्चे छह से लेकर उन्नीस वर्ष के बीच के हैं। इस संस्था में करीब बारह लोग काम करते हैं। देखा जाए तो यह 'शूल' एक तरह से सामान्य जापानी स्कूल से बिल्कुल विपरीत है।

यहां कोई बंधन नहीं है। कोई स्कूल आए या नहीं आए, कक्षा में बैठे या न बैठे, गतिविधियों में भाग ले या नहीं — सभी कुछ खुद के निर्णय पर निर्भर है। यहां जापानी, गणित, विज्ञान, समाज-शास्त्र और अंग्रेज़ी की कक्षाएं रोज़ दो से तीन घंटों तक होती हैं।

'शूल' की एक और विशेषता यहां होने वाली साप्ताहिक बैठक है, जो करीब तीन घंटे चलती है। इसमें सभी बच्चे और कार्यकर्ता भाग लेते हैं। 'शूल' से जुड़े किसी भी मुद्दे को लेकर यहां बहस हो सकती है। समस्या का हल खोजने की इस प्रक्रिया में आमतौर पर मतदान की स्थिति भी आती रहती है। मतदान में बच्चों और कार्यकर्ताओं, सभी का समान रूप से एक वोट होता है।

'शूल' में रहने के दौरान मैंने कई दिन वहां के डार्करूम में खुद खींचे फोटो तैयार करने में बिताए, साथ ही मैंने 'शूल' के अखबार का संपादन किया और रेडियो प्रसारण से स्पेनिश सीखी। स्कूल में बिताए गए सालों की तुलना में यह समय बहुत ही आराम और सहजता से बीता। यहां मैंने स्कूलों में आमतौर पर होने वाली पढ़ाई तो नहीं की लेकिन कई अन्य बातें सीखीं। तरह-तरह के लोगों से मिला और कई स्थान देखे।

स्कूल का औचित्य

स्कूल के बाहर बिताए इन चार सालों के अनुभव के बाद मैं सुबह से शाम तक कक्षा में बैठकर अंग्रेज़ी, विज्ञान और गणित जैसे विभिन्न विषयों को पढ़ाने के महत्व के बारे में शंकालु हो उठा हूं।

यहां मेरा मतलब यह नहीं है कि रसायन, भौतिकी, गणित आदि पढ़ना बेकार है, लेकिन यह बहुत हद तक व्यक्तिगत रुचि का मामला है। जिन लोगों को ये विषय नहीं आते उन्हें रोज़मर्रा के जीवन में ऐसी कोई विशेष कठिनाई नहीं आती। होता तो यह भी है कि जिन लोगों ने ये विषय विद्यालय और कॉलेज में पढ़े हैं वे भी हमेशा इन्हें याद नहीं रख पाते। इसलिए मेरे मन में सवाल उठता है कि बिना इच्छा के यह सब सीखने का क्या औचित्य? सबसे ज़रूरी तो यह है कि जो पढ़ना चाहते हैं उन्हें वैसा ही मौका दिया जाए, न कि समाज के सभी लोगों को ज़बरदस्ती सब कुछ एक जैसा पढ़ने के लिए मजबूर किया जाए।

यह लेख ओटा माल्कू के 'स्कूल बगैर जीने की कहानी: एक इनकारी बच्चे की ज़बानी' से संकलित है। ओटा माल्कू का लेख AMPO, Ja; an Asia Quarterly Review. vol. 25, No. 1 में छपा था।
यमुना सनी — एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम में कार्यरत। अनुवादः अमृता पटवर्धन।

आयनिक बंधन से आगे

सहबंधन यानी इलेक्ट्रॉन की साझेदारी

सुशील जोशी

. . .और सहबंध बनने की प्रक्रिया में एक परमाणु का नाभिक दूसरे के इलेक्ट्रॉन बादल को आकर्षित करता है, वहीं समान आवेश के कारण दोनों के नाभिक एकदूसरे को विकर्षित करने लगते हैं. . . सहबंध दरअसल वह दूरी है जिस पर आकर्षण और विकर्षण बलों में संतुलन बना हुआ है।

यह बात समझना काफी आसान है कि किसी भी वजह से यदि एक परमाणु ऋणावेशित हो और दूसरा धनावेशित, तो उनके बीच आकर्षण होगा तथा वे परस्पर जुड़े रहेंगे। यह समझना आसान इसलिए है क्योंकि यह बात हमारे स्थूल अनुभवों-अवलोकनों से मेल खाती है। मगर जब हम इस बात पर विचार करें कि क्यों कई अधातुएं (खासकर गैसें) एक ही किस्म के दो-दो परमाणुओं के जोड़ों के रूप में रहती हैं – तो स्थिति पेचीदा हो जाती है। इनमें विद्युतीय आकर्षण का कोई कारण नज़र नहीं आता। मसलन ऑक्सीजन (O_2), हाइड्रोजन (H_2), नाइट्रोजन (N_2), क्लोरीन (Cl_2), ब्रोमीन (Br_2) वगैरह अधात्विक तत्व

ज़्यादातर 'इनकारी' हैं – इकट्ठे होते हैं और कुछ-कुछ सीखते हैं। 'शूल' सोमवार से लेकर शुक्रवार तक सुबह दस बजे से देर रात तक खुला रहता है। यहां आने वाले बच्चे छह से लेकर उन्नीस वर्ष के बीच के हैं। इस संस्था में करीब बारह लोग काम करते हैं। देखा जाए तो यह 'शूल' एक तरह से सामान्य जापानी स्कूल से बिल्कुल विपरीत है।

यहां कोई बंधन नहीं है। कोई स्कूल आए या नहीं आए, कक्षा में बैठे या न बैठे, गतिविधियों में भाग ले या नहीं – सभी कुछ खुद के निर्णय पर निर्भर है। यहां जापानी, गणित, विज्ञान, समाज-शास्त्र और अंग्रेज़ी की कक्षाएं रोज़ दो से तीन घंटों तक होती हैं।

'शूल' की एक और विशेषता यहां होने वाली साप्ताहिक बैठक है, जो करीब तीन घंटे चलती है। इसमें सभी बच्चे और कार्यकर्ता भाग लेते हैं। 'शूल' से जुड़े किसी भी मुद्दे को लेकर यहां बहस हो सकती है। समस्या का हल खोजने की इस प्रक्रिया में आमतौर पर मतदान की स्थिति भी आती रहती है। मतदान में बच्चों और कार्यकर्ताओं, सभी का समान रूप से एक वोट होता है।

'शूल' में रहने के दौरान मैंने कई दिन वहां के डार्करूम में खुद खींचे फोटो तैयार करने में बिताए, साथ ही मैंने 'शूल' के अखबार का संपादन किया और रेडियो प्रसारण से स्पेनिश सीखी। स्कूल में बिताए गए सालों की तुलना में यह समय बहुत ही आराम और सहजता से बीता। यहां मैंने स्कूलों में आमतौर पर होने वाली पढ़ाई तो नहीं की लेकिन कई अन्य बातें सीखीं। तरह-तरह के लोगों से मिला और कई स्थान देखे।

स्कूल का औचित्य

स्कूल के बाहर बिताए इन चार सालों के अनुभव के बाद मैं सुबह से शाम तक कक्षा में बैठकर अंग्रेज़ी, विज्ञान और गणित जैसे विभिन्न विषयों को पढ़ाने के महत्व के बारे में शंकालु हो उठा हूं।

यहां मेरा मतलब यह नहीं है कि रसायन, भौतिकी, गणित आदि पढ़ना बेकार है, लेकिन यह बहुत हद तक व्यक्तिगत रुचि का मामला है। जिन लोगों को ये विषय नहीं आते उन्हें रोज़मर्रा के जीवन में ऐसी कोई विशेष कठिनाई नहीं आती। होता तो यह भी है कि जिन लोगों ने ये विषय विद्यालय और कॉलेज में पढ़े हैं वे भी हमेशा इन्हें याद नहीं रख पाते। इसलिए मेरे मन में सवाल उठता है कि बिना इच्छा के यह सब सीखने का क्या औचित्य? सबसे ज़रूरी तो यह है कि जो पढ़ना चाहते हैं उन्हें वैसा ही मौका दिया जाए, न कि समाज के सभी लोगों को ज़बरदस्ती सब कुछ एक जैसा पढ़ने के लिए मजबूर किया जाए।

यह लेख ओटा माल्कू के 'स्कूल बगैर जीने की कहानी: एक इनकारी बच्चे की ज़बानी' से संकलित है। ओटा माल्कू का लेख AMPO, Ja; an Asia Quarterly Review. vol. 25, No. 1 में छपा था। यमुना सनी – एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम में कार्यरत। अनुवाद: अमृता पटवर्धन।

आयनिक बंधन से आगे

सहबंधन यानी इलेक्ट्रॉन की साझेदारी

सुशील जोशी

. . .और सहबंध बनने की प्रक्रिया में एक परमाणु का नाभिक दूसरे के इलेक्ट्रॉन बादल को आकर्षित करता है, वहीं समान आवेश के कारण दोनों के नाभिक एकदूसरे को विकर्षित करने लगते हैं. . . सहबंध दरअसल वह दूरी है जिस पर आकर्षण और विकर्षण बलों में संतुलन बना हुआ है।

यह बात समझना काफी आसान है कि किसी भी वजह से यदि एक परमाणु ऋणावेशित हो और दूसरा धनावेशित, तो उनके बीच आकर्षण होगा तथा वे परस्पर जुड़े रहेंगे। यह समझना आसान इसलिए है क्योंकि यह बात हमारे स्थूल अनुभवों-अवलोकनों से मेल खाती है। मगर जब हम इस बात पर विचार करें कि क्यों कई अधातुएं (खासकर गैसें) एक ही किस्म के दो-दो परमाणुओं के जोड़ों के रूप में रहती हैं – तो स्थिति पेचीदा हो जाती है। इनमें विद्युतीय आकर्षण का कोई कारण नज़र नहीं आता। मसलन ऑक्सीजन (O_2), हाइड्रोजन (H_2), नाइट्रोजन (N_2), क्लोरीन (Cl_2), ब्रोमीन (Br_2) वगैरह अधात्विक तत्व

द्विपरमाण्विक रूप में ही आमतौर पर पाए जाते हैं। सवाल यह उठता है कि ऐसा क्यों है। इसके साथ ही यह सवाल भी है कि कई सारे तत्व ऐसे भी हैं जिनमें आयन निर्माण, ऊर्जा की दृष्टि से इतना आसान नहीं है। फिर इनमें यौगिक निर्माण क्योंकर होता है। ऐतिहासिक रूप से इस सम्बंध में कई व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं। यहां हम उन सारी व्याख्याओं में नहीं जा रहे हैं मगर उनको पढ़कर दो बातें स्पष्ट रूप से ज़ाहिर होती हैं। पहली बात तो यह कि रसायनज्ञ इस तरह के द्विपरमाण्विक तत्वों व गैर आयनिक यौगिकों की व्याख्या के लिए हाथ-पांव मार रहे थे और उस समय उपलब्ध जानकारी व धारणाओं की सीमाओं में भरसक प्रयत्न कर रहे थे। दूसरी बात यह ज़ाहिर होती है कि उस समय विकसित धारणाओं की सीमाएं एक बड़ी बाधा बन चुकी थीं।

खैर, थोड़ा आधुनिक युग की ओर बढ़ें तो सामने आते हैं – परमाणु संबंधी 'बोर का मॉडल' और रासायनिक बन्धन संबंधी 'लुईस का मॉडल'।

बोर के मॉडल की मुख्य बात यह है कि इसमें माना गया था कि परमाणु का सारा धनात्मक आवेश केन्द्र में घनीभूत है और इलेक्ट्रॉन इस केन्द्रक के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं। इसमें एक प्रमुख बात यह थी कि इलेक्ट्रॉनों के चक्कर काटने के कुछ नियम प्रतिपादित किए गए थे। इनमें से एक प्रमुख नियम यह था कि इलेक्ट्रॉन चन्द निर्धारित ऊर्जा स्तरों पर चक्कर काटते हैं; और ये इलेक्ट्रॉन एक ऊर्जा स्तर से किसी दूसरे निश्चित ऊर्जा स्तर पर ही जाएंगे। इन ऊर्जा स्तरों को इलेक्ट्रॉन-कक्षा (orbit) कहा गया।

इस मॉडल का अर्थ यह है कि ये इलेक्ट्रॉन एक ऊर्जा स्तर से दूसरे ऊर्जा स्तर पर पहुंचने के लिए या तो एक निश्चित मात्रा में ऊर्जा सोखेंगे या उत्सर्जित करेंगे। इससे कम-ज़्यादा ऊर्जा मिलने पर यह स्तर-परिवर्तन नहीं होगा। यानी ऊर्जा क्वांटम के रूप में ही चाहिए।

इन विभिन्न ऊर्जा स्तरों को **s, p, d, f** वगैरह के नाम से जानते हैं। प्रत्येक स्तर में फिर उपस्तर होते हैं तथा उपस्तरों में फिर और उप-उप स्तर होते हैं। इस तरह से किसी परमाणु में किसी भी इलेक्ट्रॉन की स्थिति की पहचान के लिए चार क्वांटम संख्याएं निर्धारित की गई हैं।

वैसे यह एक बहुत स्थूल चित्र है तथा बारीकियों को छोड़कर बताया गया है।

बहरहाल इसके आधार पर लुईस के मॉडल को समझा जा सकता है। लुईस ने 1916 में यह मॉडल प्रस्तावित किया था। तब से लेकर आज तक के अंतराल के दौरान रासायनिक

उपहार

अगर आपके किसी अन्य साथी/संस्था की संदर्भ के बारे में रुचि है तो उनका पता यहां लिख दीजिए। 'संदर्भ' की एक उपहार प्रति उन्हें तुरन्त भेजी जाएगी ताकि वे चाहें तो उसे देखकर बाद में 'संदर्भ' का वार्षिक सदस्य बन सकते हैं।

नाम ....

पता ....

....

....

पिन ....

हस्ताक्षर

बोर के मॉडल की मुख्य बात यह है कि इसमें माना गया था कि परमाणु का सारा धनात्मक आवेश केन्द्र में घनीभूत है और इलेक्ट्रॉन इस केन्द्रक के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं। इसमें एक प्रमुख बात यह थी कि इलेक्ट्रॉनों के चक्कर काटने के कुछ तथा बारीकियों को छोड़कर बताया गया है।

बहरहाल इसके आधार पर लुईस के मॉडल को समझा जा सकता है। लुईस ने 1916 में यह मॉडल प्रस्तावित किया था। तब से लेकर आज तक के अंतराल के दौरान रासायनिक

बन्धनों की हमारी समझ में काफी वृद्धि हुई है। मगर प्रस्तुतीकरण के लिहाज़ से आज भी लुईस का मॉडल उपयोगी है तथा उपयोग किया जाता है।

साझा इलेक्ट्रॉन और बंध

लुईस ने अपने मॉडल का आधार दो बातों को बनाया था:

1. सामान्यत: किसी भी परमाणु की सबसे बाहरी कक्षा में उपस्थित इलेक्ट्रॉन ही रासायनिक बंधन में भाग लेते हैं। इन्हें दर्शाने के लिए लुईस ने एक परिपाटी विकसित की। तत्व के संकेत के चारों ओर इन इलेक्ट्रॉनों को बिन्दुओं के रूप में दर्शाया जाता है:

H• He: .B .C .N. :O. :F: :Ne:

इन्हें बन्धनक्षम (वेलेन्स) इलेक्ट्रॉन कहा जाता है।

2. लुईस ने यह विचार रखा कि प्रत्येक तत्व अक्रिय (नोबल) गैसों के समान इलेक्ट्रॉन संरचना हासिल करने के लिए रासायनिक बंधन बनाता है। यह इलेक्ट्रॉन संरचना दो तरह से हासिल की जा सकती है;

$$Na\ (2, 8, 1) \longrightarrow Na^{+}\ (2, 8)$$

$$F\ (2, 7) \longrightarrow F^{-}\ (2, 8)$$

अगर सरल शब्दों में इसे देखें तो इसका मतलब है कि यदि सोडियम परमाणु अपना एक इलेक्ट्रॉन फ्लोरीन परमाणु को दे दे तो दोनों की इलेक्ट्रॉन संरचना नोबल गैस नियॉन जैसी हो जाएगी। इस तरह के आयनिक बन्धन की चर्चा संदर्भ के पिछले अंक में की गई थी। नोबल गैस संरचना हासिल करने का एक तरीका यह भी है कि दोनों परमाणु एक-एक इलेक्ट्रॉन की साझेदारी करें:

H• + .I: ⟶ H:I:

साझा इलेक्ट्रॉन अब दोनों परमाणुओं के लिए नोबल गैस संरचना निर्मित करने का काम करते हैं। लिहाज़ा यह अणु बनकर स्थायित्व प्राप्त करता है। इलेक्ट्रॉनों की साझेदारी से बने बन्धन को सहबन्ध (Covalent bond) कहते हैं। इसे चाहें तो उन दो तत्वों के बीच दो बिन्दुओं द्वारा भी दर्शाया जा सकता है और चाहें तो एक आड़ी लाईन द्वारा भी:

H• + H•   H:H   या   H–H

:F: + :F: → :F:F: या F:F या F–F

आप देख सकते हैं कि फ्लोरीन परमाणु में साझा इलेक्ट्रॉन के अलावा बन्धनक्षम स्तर पर तीन जोड़ी इलेक्ट्रॉन और हैं। इन्हें कर्ज़-इलेक्ट्रॉन-जोड़ी कहा जाता है।

लुईस के मॉडल के मुताबिक इस तरह इलेक्ट्रॉन साझेदारी के फलस्वरूप दोनों परमाणुओं को जो नोबल गैस संरचना हासिल होती है वह इस पूरी इकाई की ऊर्जा को कम कर देती है।

बन्धनों की हमारी समझ में काफी वृद्धि हुई है। मगर प्रस्तुतीकरण के लिहाज़ से आज भी लुईस का मॉडल उपयोगी है तथा उपयोग किया जाता है।

साझा इलेक्ट्रॉन और बंध

लुईस ने अपने मॉडल का आधार दो बातों को बनाया था:

1. सामान्यतः किसी भी परमाणु की सबसे बाहरी कक्षा में उपस्थित इलेक्ट्रॉन ही रासायनिक बंधन में भाग लेते हैं। इन्हें दर्शाने के लिए लुईस ने एक परिपाटी विकसित की। तत्व के संकेत के चारों ओर इन इलेक्ट्रॉनों को बिन्दुओं के रूप में दर्शाया जाता है:

H• He: .B: .C: .N: :O: :F: :Ne:

इन्हें बन्धनक्षम (वेलेन्स) इलेक्ट्रॉन कहा जाता है।

2. लुईस ने यह विचार रखा कि प्रत्येक तत्व अक्रिय (नोबल) गैसों के समान इलेक्ट्रॉन संरचना हासिल करने के लिए रासायनिक बंधन बनाता है। यह इलेक्ट्रॉन संरचना दो तरह से हासिल की जा सकती है;

$Na (2, 8, 1) \longrightarrow Na^{+} (2, 8)$

$F (2, 7) \longrightarrow F^{-} (2, 8)$

अगर सरल शब्दों में इसे देखें तो इसका मतलब है कि यदि सोडियम परमाणु अपना एक इलेक्ट्रॉन फ्लोरीन परमाणु को दे दे तो दोनों की इलेक्ट्रॉन संरचना नोबल गैस नियॉन जैसी हो जाएगी। इस तरह के आयनिक बन्धन की चर्चा संदर्भ के पिछले अंक में की गई थी। नोबल गैस संरचना हासिल करने का एक तरीका यह भी है कि दोनों परमाणु एक-एक इलेक्ट्रॉन की साझेदारी करें:

H• + .I: $\longrightarrow$ H:I:

साझा इलेक्ट्रॉन अब दोनों परमाणुओं के लिए नोबल गैस संरचना निर्मित करने का काम करते हैं। लिहाज़ा यह अणु बनकर स्थायित्व प्राप्त करता है। इलेक्ट्रॉनों की साझेदारी से बने बन्धन को सहबन्ध (Covalent bond) कहते हैं। इसे चाहें तो उन दो तत्वों के बीच दो बिन्दुओं द्वारा भी दर्शाया जा सकता है और चाहें तो एक आड़ी लाईन द्वारा भी:

H• + H• $\longrightarrow$ H:H या H–H

:F: + :F: $\longrightarrow$:F:F: या F:F या F–F

आप देख सकते हैं कि फ्लोरीन परमाणु में साझा इलेक्ट्रॉन के अलावा बन्धनक्षम स्तर पर तीन जोड़ी इलेक्ट्रॉन और हैं। इन्हें कर्ज़-इलेक्ट्रॉन-जोड़ी कहा जाता है।

लुईस के मॉडल के मुताबिक इस तरह इलेक्ट्रॉन साझेदारी के फलस्वरूप दोनों परमाणुओं को जो नोबल गैस संरचना हासिल होती है वह इस पूरी इकाई की ऊर्जा को कम कर देती है।

लिहाज़ा स्वतंत्र परमाणुओं की तुलना में यह अणु ज़्यादा टिकाऊ होता है। इस अणु के दोनों परमाणुओं को एक-दूसरे से पृथक करने के लिए जितनी ऊर्जा खर्च करना होगी, उसे बन्धन ऊर्जा कहते हैं। H_2 की बन्धन ऊर्जा 103 किलो कैलोरी प्रति मोल है जबकि F_2 की बन्धन ऊर्जा 36 किलो कैलोरी प्रति मोल है। यानी H_2 की तुलना में F_2 ज़्यादा अस्थिर अणु है।

परमाणु से अणु बनने की इस प्रक्रिया में एक-एक इलेक्ट्रॉन की ही साझेदारी हो, ऐसा ज़रूरी नहीं है। दो-दो या तीन-तीन इलेक्ट्रॉनों की साझेदारी भी हो सकती है:

:Ö. + :Ö. → :Ö::Ö: या :Ö=Ö:

.N. + .N. → :N:::N: या :N≡N:
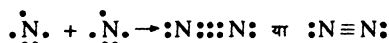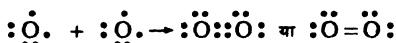
इन्हें हम दोहरा बन्ध या तिहरा बन्ध कह सकते हैं। वैसे पाठ्य-पुस्तकें शायद एक बन्ध, द्विबन्ध और त्रिबन्ध शब्दों का प्रयोग करती हैं। ज़ाहिर है कि जितने ज़्यादा इलेक्ट्रॉनों की साझेदारी होगी, बन्धन उतना ही मज़बूत होगा। F_2 की बन्धन ऊर्जा 36 किलो कैलोरी प्रति मोल है जबकि O_2 की 118 और N_2 की 225 किलो कैलोरी प्रति मोल है।

कुल मिलाकर लुईस के मॉडल ने नोबल गैस संरचना की स्थिरता के आधार पर गैर-आयनिक बन्धनों के बनने की एक अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की।

अधिकतम संभावना ऑर्बिटल में

मगर मात्र इतना कह देना कि इलेक्ट्रॉन की साझेदारी से तंत्र की ऊर्जा कम हो जाती है, पर्याप्त नहीं लगता। आखिर ऊर्जा कम क्यों हो जाती है? यानी ऐसी स्थिति में इन परमाणुओं को अलग-अलग करना क्यों मुश्किल होता है? इन बातों को समझने के लिए दो सिद्धांत या मॉडल प्रस्तुत किए गए हैं।

इन्हें हम 'वेलेन्स बॉण्ड मॉडल' तथा 'मॉलिक्यूलर ऑर्बिटल मॉडल' के नाम से जानते हैं। इन मॉडल्स को समझने से पहले एक-दो बातें स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

पहली बात कि ये मॉडल क्वांटम यांत्रिकी की धारणाओं पर आधारित हैं। इसका मतलब यह है कि इलेक्ट्रॉन को एक कण न मानकर कण व तरंग का मिला-जुला रूप माना जाता है। कई कारणों से हम यह भी नहीं बता सकते कि किसी एक क्षण पर यह इलेक्ट्रॉन ठीक-ठीक कहां है। अतः हम इस बात की गणना करते हैं कि किसी दिए गए स्थान (आयतन) में इसके होने की संभाविता कितनी है। अधिकतम सम्भाविता वाला क्षेत्र 'ऑर्बिटल' कहलाता है। मतलब यह नहीं कहा जा रहा है कि इसके अलावा कहीं और इस इलेक्ट्रॉन के पाए जाने की सम्भाविता शून्य है। कहा यह जा रहा है कि ऑर्बिटल क्षेत्र के बाहर
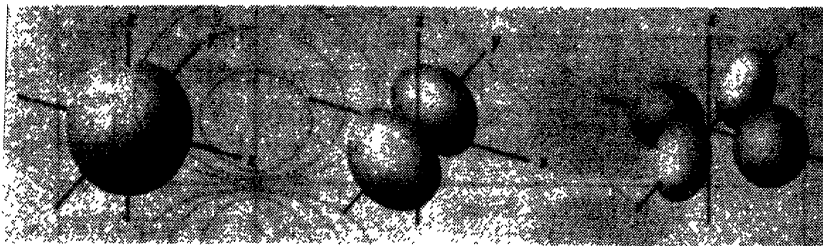
1.
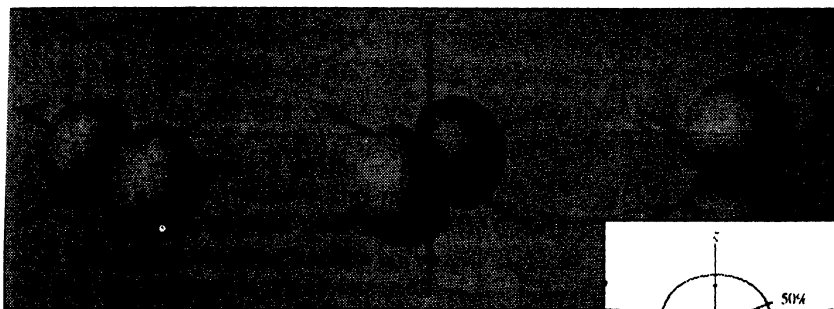
2.
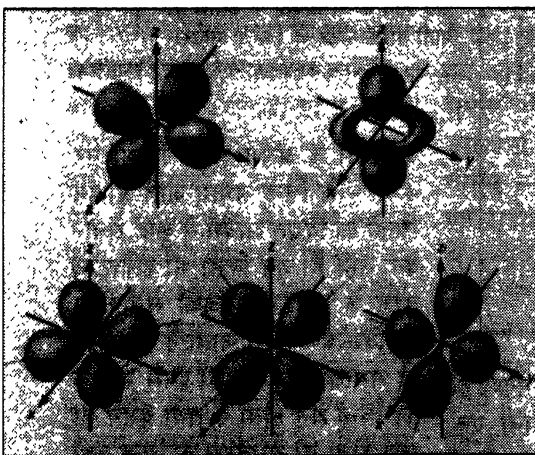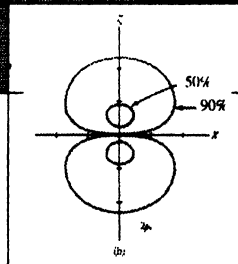
3.

1. s, 2p और 3d ऑर्बिटल की आकृतियां। s ऑर्बिटल गेंदनुमा होता है, 2p ऑर्बिटल डमरू के आकार का और 3d ऑर्बिटल, दो डमरू आपस में गुंथे हुए हों इस तरह की। ये सारी आकृतियां त्रिआयामी हैं।

2. तीन 2p ऑर्बिटल: p_x, p_y, p_z और नीचे p_z कक्षा का इलेक्ट्रॉन घनत्व मानचित्र। जो छोटा गोला है उसमें इलेक्ट्रॉन के पाए जाने की संभाविता 50 प्रतिशत है और बाहरी घेरे के भीतर इलेक्ट्रॉन पाए जाने की संभाविता 90 फीसदी है।

3. पांच 3d ऑर्बिटल: d_{xy}, d_{xz}, d_{yz}, d_{x^2}, $d_{x^2-y^2}$

1(अ) 2p ऑर्बिटल में इलेक्ट्रॉन पाए जाने की संभाविता दर्शाने का एक और तरीका – बिन्दुओं का घनत्व संभाविता प्रदर्शित करता है।

1(ब) 2p ऑर्बिटल का इलेक्ट्रॉन समघनत्व रेखाचित्र – यह दरअसल एक ठोस मॉडल की आड़ी काट है। प्रत्येक रेखा पर लिखे अंक उस सतह पर इलेक्ट्रॉन पाए जाने की संभाविता के द्योतक हैं। pm यानी पाइकोमीटर = 10^{-12} मीटर।

2. $3p_z$ ऑर्बिटल का इलेक्ट्रॉन समघनत्व रेखाचित्र।
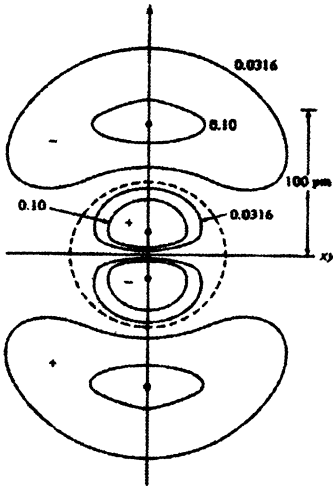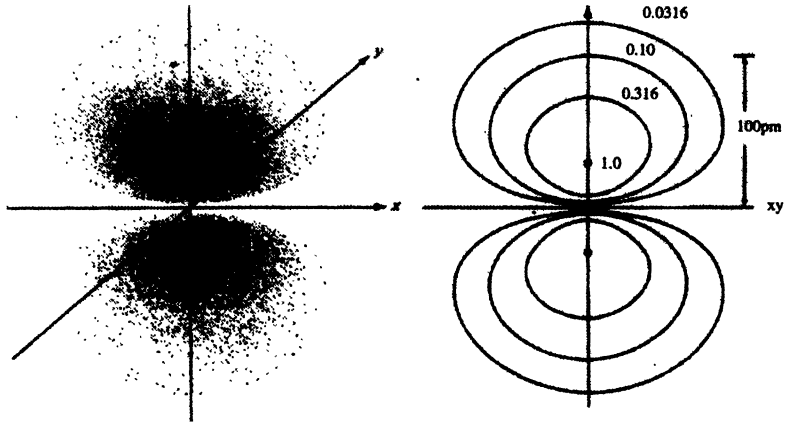
इसके पाए जाने की सम्भाविता नगण्य है।

प्रत्येक ऑर्बिटल का अपना एक आकार है। हमने ऊपर s, p, d, f ऑर्बिटल की बात की थी। इनकी आकृतियां चित्र में देखिए। कई बार ऑर्बिटल के अलग-अलग हिस्सों पर + व – के चिन्ह लगाए जाते हैं। इन चिन्हों का विद्युत आवेश से कुछ लेना-देना नहीं है। जब किसी भी इलेक्ट्रॉन तरंग के क्वांटम यांत्रिकी समीकरण का विश्लेषण किया जाता है तो उसके दो समाधान मिलते हैं। इनमें से एक का चिन्ह धन होता है तथा दूसरे का ऋण होता है। ऑर्बिटल के चिन्ह वही चिन्ह हैं।

बोर के परमाणु मॉडल में जिन

कक्षाओं यानी ऑर्बिट की बात की गई थी उनसे ये ऑर्बिटल एक खास अर्थ में अलग हैं। ऑर्बिट या कक्षा लगभग उस तरह की बात है जैसे कि हम पृथ्वी की कक्षा की बात करते हैं। इसमें (या यों कहें कि इस पर) पृथ्वी चक्कर लगाती है। यह एक प्रकार से एक रास्ते का द्योतक है। इलेक्ट्रॉन और ऑर्बिटल का मामला इससे थोड़ा अलग है। चाहे हम ऑर्बिटल को एक रेखा द्वारा चित्रित करें मगर उसका अर्थ यह है कि उस रेखा (वास्तव में सतह) द्वारा घेरे गए आयतन के अन्दर इलेक्ट्रॉन के होने की सम्भाविता निश्चित है व काफी ज़्यादा है।

इस सम्भाविता के आधार पर हम विभिन्न स्थानों पर इलेक्ट्रॉन घनत्व की गणना भी कर सकते हैं। इसे दर्शाने के कई तरीके हैं। एक तरीका इलेक्ट्रॉन-बादल (electron cloud) का है। इसमें किसी निश्चित आयतन को बारीक-बारीक बिन्दुओं से बने एक बादल के रूप में दर्शाया जाता है। इसका तात्पर्य सिर्फ इतना है कि जहां बिन्दुओं का घनत्व ज़्यादा है वहां इलेक्ट्रॉन के होने की सम्भाविता ज़्यादा है मतलब इलेक्ट्रॉन घनत्व अधिक है। इसी चीज़ को दर्शाने का एक तरीका यह भी है कि हम व्यावहारिक दृष्टि से अधिकतम घनत्व वाले क्षेत्र को एक रेखा से घेर दें। इसी प्रकार का एक विकसित रूप है — इलेक्ट्रॉन घनत्व मानचित्र। इसमें उन स्थानों को एक रेखा द्वारा जोड़ दिया जाता है जहां इलेक्ट्रॉन घनत्व एक-सा हो। इस तरह के विभिन्न प्रस्तुतीकरण चित्र में देखिए।

आकर्षण भी, विकर्षण भी

अब देखते हैं कि सहबन्धन का आशय क्या है। मान लीजिए हम हाइड्रोजन के दो परमाणुओं से हाइड्रोजन का अणु बनने का उदाहरण लेते हैं। प्रत्येक परमाणु को H से दर्शाया जा सकता है। जब ये दो परमाणु एक-दूसरे से अनन्त दूरी पर हों, तो ये एक-दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डालेंगे। इस स्थिति में इनकी अपनी-अपनी स्वतंत्र इलेक्ट्रॉनिक संरचना होगी। हाइड्रोजन परमाणु में एक ही इलेक्ट्रॉन है तथा यह 1s ऑर्बिटल में रहता है। इस ऑर्बिटल की बनावट एक गेंद के समान मान सकते हैं। यानी केन्द्रक के आसपास चारों ओर इलेक्ट्रॉन घनत्व समान रूप से वितरित होता है। यह एक सुडौल ऑर्बिटल है। इस अवस्था में प्रत्येक परमाणु की एक निश्चित ऊर्जा होगी।

अब हम हाइड्रोजन के इन दो परमाणुओं को पास-पास लाना शुरू करते हैं। एक हद से पास आने पर ये एक-दूसरे को प्रभावित करने लगते हैं। दोनों के केन्द्रक धनावेशित हैं। वे एक-दूसरे को दूर धकेलने लगते हैं। दोनों के इलेक्ट्रॉन बादल ऋणावेशित हैं।

(अ)　　(ब)

(स)

(द)
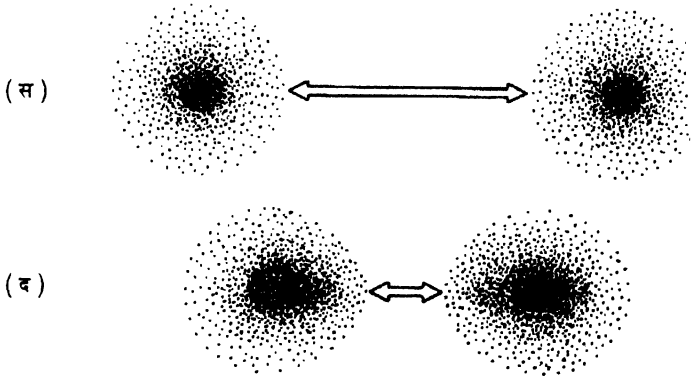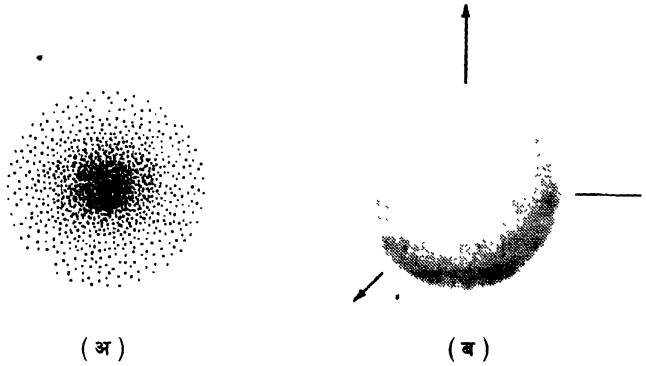
H_2 अणु का बनना: हाइड्रोजन के परमाणु का एक इलेक्ट्रॉन, 1s ऑर्बिटल में चक्कर लगाता है। (अ) इस कक्षा में संभावित इलेक्ट्रॉन घनत्व; (ब) यह गोलीय कक्षा त्रिआयामी होती है, और इसमें इलेक्ट्रॉन पाए जाने की संभाविता 95 प्रतिशत है;

(ई)
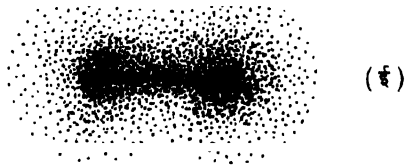
(स) जब दो हाइड्रोजन परमाणु एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर होते हैं तो एक दूसरे पर किसी भी तरह का कोई भी बल नहीं लगाते; (द) जब इन्हें पास लाया जाता है तो प्रत्येक परमाणु का इलेक्ट्रॉन संभाविता क्षेत्र दूसरे परमाणु के नाभिक की ओर आकर्षित होना शुरू होता है, और इनका मूल आकार बिगड़ना शुरू होता है। इस वजह से दोनों नाभिकों के बीच वाले क्षेत्र में इलेक्ट्रॉन संभाविता बढ़ती है; (ई) और पास आने पर समान आवेश के कारण दोनों नाभिक एक दूसरे को विकर्षित करना भी शुरू कर देते हैं, और एक सीमा आती है कि दोनों परमाणु एक दूसरे के और पास नहीं आ पाते।

इस तरह किसी अणु में सहबंध की लंबाई दरअसल वह दूरी है जिस पर आकर्षण और विकर्षण बलों में संतुलन बना हुआ है।

इसलिए वे भी एक-दूसरे को दूर धकेलेंगे। यानी परमाणु पास-पास आने से रोके जाएंगे – परन्तु साथ में एक और प्रक्रिया शुरू हो जाती है। एक परमाणु का केन्द्रक, दूसरे परमाणु के इलेक्ट्रॉन बादल को आकर्षित करने लगता है। वैसे तो हम यह सोचते हैं कि केन्द्रक परमाणु के बीच में है तथा इलेक्ट्रॉन आवेश उसके आसपास है, इसलिए केन्द्रक का प्रभाव बाहर नहीं होना चाहिए। मगर ऐसा होता नहीं है। केन्द्रक का पूरा असर निष्प्रभावी नहीं हो पाता। लिहाज़ा एक परमाणु का केन्द्रक दूसरे परमाणु के इलेक्ट्रॉन बादल को आकर्षित करता है। इस आकर्षण की वजह से दोनों ही परमाणुओं में इलेक्ट्रॉन घनत्व के वितरण की आकृति बदलने लगती है। इलेक्ट्रॉन का घनत्व दोनों केन्द्रकों के बीच बढ़ने लगता है और पूरे तंत्र की ऊर्जा कम होने लगती है।

इलेक्ट्रॉनों के दोनों केन्द्रकों के बीच घनीभूत होने का एक असर और होता है। यह घना इलेक्ट्रॉन-बादल केन्द्रकों के बीच एक पर्दे का काम करता है। अत: केन्द्रकों के बीच विकर्षण का बल थोड़ा कम हो जाता है। अब इस तंत्र को हम हाइड्रोजन का एक अणु कह सकते हैं।

केन्द्रक और इलेक्ट्रॉन के बीच आकर्षण के कारण दोनों परमाणु और भी पास-पास आ जाते हैं और अणु की ऊर्जा और भी कम हो जाती है। मगर यह स्थिति एक निश्चित निकटता तक ही जारी रहेगी। जब केन्द्रक एक हद से ज़्यादा निकट आ जाएंगे तो उनके बीच का विकर्षण इन्हें फिर दूर धकेल देगा। जब दूर हो जाएंगे तो फिर आकर्षण होने लगेगा। यानी अब ये दो परमाणु एक पेण्डुलम की तरह दूर-पास होते रहेंगे – गोया कि किसी स्प्रिंग से आपस में जुड़े हों। इस 'स्प्रिंग' की अधिकतम लम्बाई और न्यूनतम लम्बाई के बीच एक मध्यमान बिन्दु होता है जहां आकर्षण व विकर्षण के बल एकदम संतुलित होते हैं। इसी को बन्ध-लम्बाई (Bond length) कहते हैं।

हमने ऊपर कहा कि इलेक्ट्रॉन केन्द्रकों के बीच घनीभूत हो गए हैं। इसका मतलब यह है कि इस नए तंत्र में (यानी अणु में) इलेक्ट्रॉन के पाए जाने की सम्भाविता का वितरण बदल गया है। यह वितरण इस तरह बदलता है कि पूरे तंत्र की ऊर्जा कम हो जाती है। मगर सवाल यह है कि इस पूरी अंत:क्रिया व बदले हुए सम्भाविता वितरण को कैसे समझा जाए? इसी बात को समझने के दो तरीके हैं – 'वेलेन्स बॉण्ड मॉडल' तथा 'मॉलीक्यूलर ऑर्बिटल मॉडल' लेकिन इन पर बातचीत अगली बार।

सुशील जोशी – पर्यावरण एवं विज्ञान लेखन में सक्रिय। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

शुक्राणु और अंडाणु का निर्माण

विपुल कीर्ति

वैसै तो सभी अंगो का निर्माण कोशिका विभाजन से होता है – शुक्राणु और अंडाणु का भी। लेकिन फिर भी किस्सा थोड़ा फर्क है।

1.

2.

3.
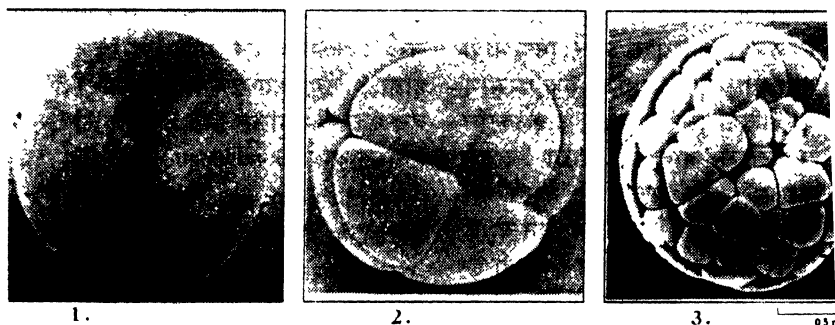
अंडाणु में विभाजन: अंडाणु के निषेचित होने के बाद उसमें कोशिकीय विभाजन शुरू हो जाता है। और एक से दो, दो से चार, चार से आठ . . . कोशिकाएं बनना शुरू हो जाती हैं।
1. मेंढक का अनिषेचित अंडाणु 2. आठ कोशिकाओं में टूट चुका अंडाणु 3. बत्तीस से चौंसठ कोशिकाओं में टूट चुका अंडाणु। ध्यान दीजिए की इन सब विभाजन के दौरान अंडाणु का आकार नहीं बदलता, लेकिन विभाजित कोशिकाओं का आकार छोटा, और छोटा होता जाता है।

किसी भी प्राणी में अंडाणु और शुक्राणु के मेल से जब अंडाणु निषेचित हो जाता है तो निषेचन के कुछ समय बाद से ही इस निषेचित अंडाणु में विभाजन शुरू हो जाता है। एक से दो, दो से चार, चार से आठ . . . । इस तरह समसूत्रीय विभाजन होते होते कोशिकाओं की एक गेंद-सी बन जाती है। चित्र में दिखाए मुताबिक ब्लास्टुला अवस्था में पहुंचने के बाद कोशिकाएं अपनी जगह से इधर-उधर खिसक

जाती हैं, कईयों की दिशा बदल जाती है – इस सब से अब एक ऐसी गेंद बन जाती है जो तीन परत वाली होती है। प्रत्येक परत की कोशिकाएं अन्य कोशिकाओं से भिन्न होती हैं। ये वे तीन परतें हैं जिनसे आगे चलकर भ्रूण के सभी अंग बनते हैं। मतलब ये कि हमारा पूरा शरीर इन तीन परत की कोशिकाओं से मिलकर बना होता है। प्रत्येक परत की कोशिकाओं को यह मालूम रहता है कि उसे कौन-सा अंग बनाना है। सामान्य भ्रूण में ये तीनों परत दिए गए कार्य को अन्जाम देती हैं। इन तीन परतों को एक्टोडर्म, मिज़ोडर्म व एन्डोडर्म कहते हैं अर्थात बाह्य परत, मध्य परत और अंतः परत।

'बाह्य परत' त्वचा की ऊपरी परत व उसकी ग्रन्थियां और केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र बनाती है। इसी प्रकार 'मध्य परत' त्वचा की निचली परत, समस्त पेशियां, कंकाल, उत्सर्जन तंत्र, जनन तंत्र, रीढ़ की हड्डी तथा हृदय व समस्त रुधिर वाहिनियां बनाती है। 'अंतः परत' आहारनाल व उससे बनने वाली पाचक ग्रन्थियां जैसे लीवर, अग्नाशय आदि बनाती है। साथ ही ये फेफड़े, श्वासनली, मूत्राशय, थाइराइड व थायमस भी बनाती है। कई अंग एक से ज़्यादा पर्तों से भी बनते हैं।

मुख्य रूप से जिस परत से शरीर का एक भाग बनता है, उसकी सभी रचनाएं भी उसी परत से बनती हैं। चलिए, इसे इस प्रकार से समझें। हमें पता है कि मिज़ोडर्म (मध्य परत) से हृदय व समस्त रुधिर वाहिनियां बनती हैं। अगर यह पूछा जाए कि लाल रक्त कोशिकाएं व श्वेत रक्त कोशिकाएं किस परत से बनती हैं, तो आप कहेंगे कि चूंकि हृदय व समस्त रुधिर वाहिनियां मध्य परत से बनती हैं तो रक्त की कोशिकाएं भी मध्य परत से ही बनेंगी। आप बिलकुल सही कह रहे हैं।

अब मैं आप से एक और प्रश्न पूछता हूं कि बताइए पसीने की ग्रंथियां किस परत से बनती हैं? तो शायद आप फिर से कहेंगे कि चूंकि त्वचा की ऊपरी परत व उसकी ग्रंथियां बाह्य परत से बनती हैं तो पसीने की ग्रंथियां भी बाह्य परत से ही बनेंगी। आप फिर से बिलकुल ठीक कह रहे हैं।

लेकिन क्या मैं आप से, एक और प्रश्न करने की गुस्ताखी करूं। अब जनाब, मुझे यह बताइए कि शुक्राणु कौन-सी परत से बनता है तो आप यकीकन कहेंगे कि जब जनन तंत्र मध्य परत से बनता है तो शुक्राणु भी मध्य परत से ही बनेगा। वैसे बहुत-सी किताबों में भी यही लिखा गया है और बहुत से शिक्षक भी पढ़ाते समय यही भूल कर बैठते हैं।

मनुष्य में वृषण या टैस्टीज़ असंख्य कुंडलित नलिकाओं का बना होता है। इन नलिकाओं के ठीक भीतर जनन

ब्लास्टुला: निषेचित अंडाणु में लगातार हो रहे कोशिकीय विभाजन के दौरान विभाजित कोशिकाएं (ब्लास्टोमोर्स) अंडाणु की सतह की ओर जाना शुरू हो जाती हैं। इस वजह से बीच की जगह खाली होने लगती है। इस खाली जगह में द्रव भरा होता है। इसी अवस्था को ब्लास्टुला कहते हैं।
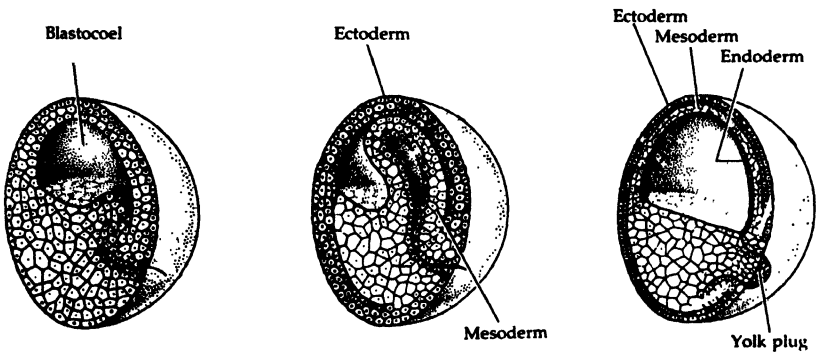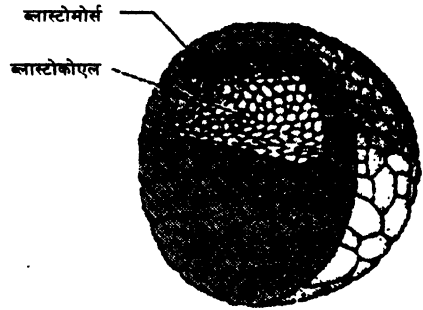
ब्लास्टुला के आगे: ब्लास्टुला अवस्था के बाद कई कोशिकाएं अपनी जगह से खिसकना शुरू कर देती हैं। सतह पर मौजूद कुछ कोशिकाएं अंदर की ओर चल पड़ती हैं। इससे, पहले दो परत वाली गेंदनुमा संरचना बनती है। बाद में अंदर वाली परत दो परतों में टूट जाती है और तीन परत वाली संरचना बन जाती है।

एपिथीलियम होती है। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि जनन एपिथीलियम की कोशिकाओं के विभाजन और परिपक्व होने से शुक्राणु बनते हैं। पर पाया गया है कि शुक्राणु और अंडाणु बनने का किस्सा अन्य सब अंगों के निर्माण से फर्क और थोड़ा अजीबोगरीब भी है। ये प्रारंभिक कोशिकाओं से बनते हैं।

प्रारंभिक कोशिकाएं जनन अंगों में पैदा न होकर कहीं और पैदा होती हैं, और फिर जनन अंगों में पहुंच जाती हैं। जनन अंगों में पहुंचकर इनमें कोशिका विभाजन होता है। जिसके

फलस्वरूप जनन कोशिकाएं – शुक्राणु और अंडाणु बनते हैं।

निषेचित अंडाणु में विभाजन होने पर जो कोशिकाएं बनती हैं उन्हें शुरूआती अथवा प्रारंभिक कोशिकाएं कहा जाता है। ब्लास्टुला अवस्था में पहुंचने के बाद इन कोशिकाओं में विभेदन होना शुरू हो जाता है जिससे तय हो जाता है कि कौन-सी कोशिकाओं से अंततः कौन-सा अंग बनेगा।

इन कोशिकाओं से भ्रूण के अलावा बहुत-सी और झिल्लियां एवं रचनाएं भी बनती हैं। जिनमें से एक वह हिस्सा होता जिससे भ्रूण को पोषण मिलता है। इसे योक सेक (yolk sac) भी कहते हैं। मनुष्य में इस हिस्से की अंतःपरत की प्रारंभिक कोशिकाएं शुक्राणु व अंडाणु में तब्दील होती हैं। 'योक सेक' से अलग होकर ये प्रारंभिक कोशिकाएं विचरती हुई वृषण व अंडाशय तक पहुंच जाती हैं।

जनन अंग हमेशा मध्य परत से उत्पन्न होते हैं। पर यह ज़रूरी नहीं कि जनन कोशिकाओं को बनाने वाली प्रारंभिक कोशिकाएं भी 'मध्य परत' की ही हों।

प्रारंभिक कोशिकाएं किस जगह से जनन अंगों में आती हैं, यह वैज्ञानिकों के बीच मतभेद का विषय रहा है।

उभयचर जीवों में, मेंढक जैसे बिना पूंछ वाले प्राणियों में, अण्डे के एक

1. तीन महीने के भ्रूण के योक सेक की दीवारों पर चिपकी प्राथमिक कोशिकाओं का रेखाचित्र।
2. जनन संधि की ओर जाती प्राथमिक कोशिकाओं का रेखाचित्र। यहां पहुंचकर इन कोशिकाओं में विभाजन होगा।

1.

2.

. . . कौन सा अंग बनेगा . . .

इतना आसान नहीं था यह पता करना और तय करना कि किस परत की कौन-सी कोशिका से कौन-सा अंग बनता है। 1929 में जर्मनी के भ्रूण विज्ञानी डब्लू. वोग्ट ने एक शोध पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने इस दिशा में किए गए अपने प्रयोगों की जानकारी दी थी। उन्होंने मेंढक के ब्लास्टुला की कई कोशिकाओं को विभिन्न रंगों के रंजक घुसेड़कर रंग दिया। थोड़ा विकसित हो जाने के बाद इन्हें काट-काट कर देखा कि अंत में ये रंगीन कोशिकाएं कहां पहुंचती हैं।

वैसे आजकल भ्रूणीय अवस्था में कोशिकाओं को चिन्हित करने के कई तरीके विकसित हो चुके हैं। जैसे कि कोशिकाओं में फ्लोरेसेन्ट पदार्थ (जो प्रकाश डालने पर चमकते हैं) डालना। इसके बाद 'फ्लोरेसेन्ट सूक्ष्मदर्शी' की सहायता से इन कोशिकाओं पर निगाह रखी जाती है।

इसी तरह की एक और प्रक्रिया में विभाजित हो रही शुरूआती कोशिकाओं में से कुछ में खास किस्म के एन्ज़ाइम प्रविष्ट करा दिए जाते हैं। तत्पश्चात भ्रूण के विकास की क्रिया आगे बढ़ती रहती है, कोशिकाओं में विभाजन जारी रहता है। कुछ समय बाद भ्रूण के विभिन्न भाग की कोशिकाओं को ऐसे पदार्थ में डुबाया जाता है जो उस एन्ज़ाइम से क्रिया करता है। जिन कोशिकाओं में वह एन्ज़ाइम मौजूद होगा उन्हीं के साथ यह पदार्थ क्रिया करता है। इससे पता चल जाता है कि वे कोशिकाएं जिनमें एन्ज़ाइम डाला था, उनसे भ्रूण के कौन से अंगों का निर्माण हुआ है।

सिरे में पहले से ही प्रारंभिक कोशिकाओं का जर्म प्लाज़्म रहता है। जबकि पूंछ वाले उभयचरों में मध्य परत से ही प्रारंभिक कोशिकाएं बनती हैं।

सरीसृप प्राणियों में प्रारंभिक कोशिकाएं बाह्य परत व मध्य परत के बीच की जगह से निकलकर रक्तवाहिनियों में आ जाती हैं। रक्त द्वारा ये फिर जनन अंगों में पहुंच जाती हैं।

बहुत से स्तनधारियों (जैसे चूहों) में यह देखा गया है कि अंत: परत की कुछ कोशिकाएं, जनन अंगों में पहुंच जाती हैं जो जनन कोशिकाओं का निर्माण करती हैं। इनमें कोशिकाएं रक्त वाहिनियों द्वारा जाने की बजाए अमीबा की तरह विचरती अपने गंतव्य तक पहुंच जाती हैं।

जनन कोशिकाओं में अल्केलाइन

फास्फेटेज़ नामक एन्ज़ाइम की सांद्रता अधिक होती है। सांद्रता के आधार पर यह पता चल जाता है कि एन्ज़ाइम की ज़्यादा सांद्रता वाली कोशिकाएं अन्तः परत से होती हुई जनन अंगों तक आ पहुंची हैं। भ्रूण में अंग निर्माण के समय ही हम कुछ विशेष रंजक पदार्थों द्वारा केवल प्रारंभिक कोशिकाओं का पता लगा सकते हैं। इन रंगीन कोशिकाओं को अगर हम एक्स किरणों से या फिर सूक्ष्म गर्म पिन से जलाकर नष्ट कर दें तो पाएंगे कि वयस्क में जनन अंग बनते तो हैं पर उनमें जनन कोशिकाएं अर्थात शुक्राणु या अंडाणु का निर्माण नहीं हो पाता है। मतलब यह कि इन कोशिकाओं को यदि मारा न जाता तो वे धीरे-धीरे जनन अंगों तक पहुंच कर जनन कोशिकाओं का निर्माण करती। अर्थात मनुष्य व अन्य रीढ़धारियों के परिवर्धन (development) के दौरान प्रजनन अंग तो निषेचित युग्मक से बनने वाली मध्य परत से बनते हैं परन्तु जनन कोशिकाएं यानी अंडाणु और शुक्राणु अन्तः परत से विचरती हुई आई प्रारंभिक कोशिकाओं से बनते हैं।

विपुल कीर्ति – बी. एस. सी. द्वितीय वर्ष के छात्र, इंदौर में रहते हैं।

बीजों में श्वसन

● रूचि चौरे

कैसे पता करें कि बीज श्वसन करते हैं कि नहीं?

'बीज श्वसन करते हैं अथवा नहीं?' यह एक ऐसा प्रश्न है जो कक्षा में कई बार उठ जाता है। आमतौर पर यही होता है कि ऐसा कोई प्रश्न आते ही शिक्षक अपनी जानकारी के अनुसार तुरन्त उसका जवाब दे देता है।

जबकि ऐसे कई सवाल हमें मौका देते हैं कि विद्यार्थियों के साथ मिलकर उन्हें प्रयोग करके अपने सवालों का हल खोजना सिखा पाएं। इसलिए इस प्रश्न के संबंध में एक प्रयोग का ज़िक्र यहां कर रही हूं, जिसे बिना विशेष उपकरणों के आसानी से किया जा सकता है।

ज़रूरी सामग्री: कोनिकल फ्लास्क, एक छेदी कॉर्क, कांच की नली, बीकर, परखनली, इंजेक्शन की खाली शीशी,
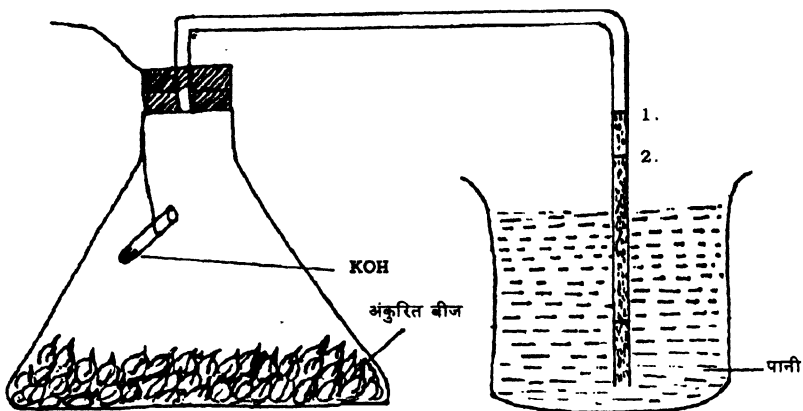
धागा, पानी, बीज और पोटेशियम हाईड्रॉक्साईड (KOH)

प्रयोग का तरीका: चित्र के मुताबिक सब उपकरण जमा लें। कोनिकल फ्लास्क में काफी सारे अंकुरित बीज डाल दें। इंजेक्शन की खाली शीशी में पोटेशियम हाइड्रॉक्साईड भरकर उसे कोनिकल फ्लास्क में धागे की सहायता से लटका दिया जाता है। कांच की नली का दूसरा सिरा बीकर में भरे पानी के अंदर रहना चाहिए। कोनिकल फ्लास्क को हवाचुस्त करना भी बेहद ज़रूरी है।

सिद्धांत: अब अगर अंकुरित बीज भी श्वसन करते हैं तो वे फ्लास्क के अंदर की ऑक्सीजन को अवशोषित कर कार्बन डाईऑक्साईड छोड़ेंगे। पोटेशियम हाईड्रॉक्साईड की यह विशेषता होती है कि वह कार्बन डाईऑक्साईड को सोख लेती है। ऐसा होने पर कोनिकल फ्लास्क के अंदर दबाव कम होगा जिससे कांच की नली के दूसरे सिरे में पानी ऊपर चढ़ने लगेगा।

तो आप प्रयोग करके देखिए और बताईए कि आपके प्रयोग में नली में पानी ऊपर चढ़ा या नहीं?

रूचि चौरे — शासकीय गृह विज्ञान महाविद्यालय, होशंगाबाद में अध्ययनरत।

तो धरती भी गोल निकली

दीपक वर्मा

बहुत पेचीदा सवाल था कि धरती कैसी है। कभी कहा गया कि ये चपटी है, तो कभी बेलनाकार . . . लेकिन कैसे मानें? सवाल जो उठ रहे थे, ढेर सारे। और जब लोग इन सवालों का हल ढूंढते तो और नए सवाल खड़े हो जाते. . . खैर अंत में धरती गोल ही निकली।

आगे पीछे कहीं भी जाओ धरती सपाट दिखती है। फिर भी लोग कहते हैं कि यह गोल है, तो फिर यह हमें सपाट क्यों दिखती है। और अगर दिखती है तो कैसे मानें कि वह गोल है?

धरती चपटी है

पुराने ज़माने में भी लोग यही मानते थे कि धरती सपाट है, चपटी है। ऊपर की ओर नज़र उठा कर देखो तो हर कहीं आकाश-ही-आकाश है। दिन में नीला और रात में तारों से भरा काला-सा। अगर किसी खुली जगह पर जाकर चारों ओर दूर-दूर तक नज़र दौड़ाओ तो लगता है कि कहीं दूर हर कोने पर पृथ्वी और आकाश मिल रहे हों। मानो किसी ने चपटी धरती पर एक बड़ा-सा कटोरा उल्टा करके रख दिया हो।

धरती को लेकर एक धारणा यह भी थी कि यह ज़मीन का एक बहुत विशाल टुकड़ा है जिसके चारों ओर समुद्र है। और जिसका कोई अंत ही नहीं है।

लेकिन इस रचना में सूरज कहां फिट बैठता है। हर सुबह वह पूर्व में उगता है, पूरा दिन आकाश की यात्रा

चपटी धरती के ऊपर उल्टे कटोरे के समान रखे आकाश की परिकल्पना।

करने के बाद शाम को पश्चिम में डूब जाता है, अगली सुबह फिर वहीं पूर्व में...। तो रात में सूरज कहां जाता है, कैसे जाता है? कुछ लोगों ने इस सवाल का जवाब देने की कोशिश भी की – हर सुबह एक नया सूर्य बनता है और हर शाम नष्ट हो जाता है; तो कुछ का कहना था कि शाम को यह पश्चिम में समुद्र में अस्त होता है और फिर रात्रि में इसे एक नाव में रखकर पूर्व की ओर लाया जाता है। इस तरह यह हर सुबह पूर्व में उगने के लिए तैयार मिलता है।

सूर्य को लेकर ही एक दूसरी धारणा यह थी कि दरअसल यह सोने का चमकता हुआ रथ है, जादुई घोड़े इसे खींचते हैं जो हवा में भी उड़ सकते हैं। ये घोड़े पूर्व से अपनी यात्रा शुरू करते हैं और दोपहर में आकाश के सबसे ऊंचे सिरे पर पहुंच जाते हैं, इसके बाद नीचे उतरना शुरू करते हैं और शाम को पश्चिम में ज़मीन पर उतर जाते हैं। रात के समय ये किसी तरह वापस पूर्व की ओर पहुंच जाते हैं – हां, इस समय प्रकाश नहीं फेंकते।

लेकिन पहेली सिर्फ सूर्य की नहीं बल्कि चंद्रमा और छोटे-छोटे चमकते तारों की भी थी जिनसे कि आसमान भरा पड़ा है।

धरती के नीचे क्या?

इन्हीं सारे सवालों के साथ एक और गुत्थी भी थी कि अगर धरती एक विशाल ज़मीन का टुकड़ा है तो

इसकी गहराई कितनी है, यानी इसकी मोटाई क्या है? अगर हम इसमें एक गड्ढा खोदना शुरू करें तो क्या हमेशा ही खोदते रहेंगे... क्या कभी इसका कोई अंत मिलेगा नीचे?

या फिर ज़मीन दरअसल कुछ ही किलोमीटर गहरी है 50, 100, 200...? वैसे अगर यह मानकर चलें कि ज़मीन असल में केवल कुछ किलोमीटर मोटा टुकड़ा है तो एक और सवाल खड़ा हो जाता है – फिर ये किस पर टिका हुआ है या इसे नीचे गिरने से रोकने वाली चीज़ क्या है?

कुल जमा स्थिति यह थी कि हर नई व्याख्या के साथ नए सवाल खड़े हो जाते थे – और लोग उन सबके हल तलाशने में लगे हुए थे।

जैसे कि हमारे देश में इस सवाल का जवाब कुछ इस तरह दिया गया कि पृथ्वी विशाल हाथियों की पीठ पर टिकी हुई है। . . . लेकिन ये हाथी किस के सहारे खड़े हैं? जवाब आया कि ये हाथी एक विशाल कछुए की पीठ पर खड़े हैं। ये कछुआ किस आधार पर...? कहा गया कि ये कछुआ एक बहुत बड़े समुद्र में तैर रहा है। तो फिर समुद्र....? ये नीचे अंतहीन गहराई तक फैला हुआ है। तो अगर यह मान भी लें कि धरती चपटी है तब भी ढेर सारे सवालों को टिकने के लिए कोई आधार नहीं मिल पा रहा था।

2500 साल पहले

करीब ढाई हज़ार साल पहले ग्रीस में कुछ लोग इस समस्या के बारे में गहराई से सोच रहे थे। उनमें से एक था, एनक्ज़ीमेन्डर। वो रात में आकाश का अवलोकन किया करता था। उसने पाया कि सारी रात तारे, आकाश में चलते-फिरते नज़र आते हैं। लेकिन उत्तरी आकाश में एक तारा है जो अपनी जगह से बिलकुल भी नहीं हिलता-डुलता, स्थिर बना रहता है। इसके आसपास के तारे इसका चक्कर लगाते हैं; पास के तारे छोटे घेरे में और दूर के तारे बड़े घेरे में। यह स्थिर तारा था ध्रुव तारा। एनेक्ज़ीमेन्डर ने पाया कि तारे एक निश्चित क्रम में यात्रा करते हैं – यूं ही यहां-वहां नहीं भागते।

उसने सोचा कि शायद आकाश एक बहुत ही विशाल गोला है, एक बहुत बड़ी अंदर से पोली गेंद की तरह। तारे इसमें फंसे हुए हैं। यह गोला एक अक्ष के चारों ओर घूमता है। इसके साथ इसमें फंसे तारे भी घूमते हैं। इसीलिए ये हमेशा एक क्रम में गति करते दिखते हैं। इस अक्ष का एक सिरा ध्रुव तारा है। यह अक्ष धरती के केन्द्र से गुज़रता है। इसका दूसरा सिरा धरती के दूसरी ओर है, जो हमें दिखाई नहीं देता। उसने सूर्य और चांद को भी इस गोले से चिपका हुआ माना। आकाश
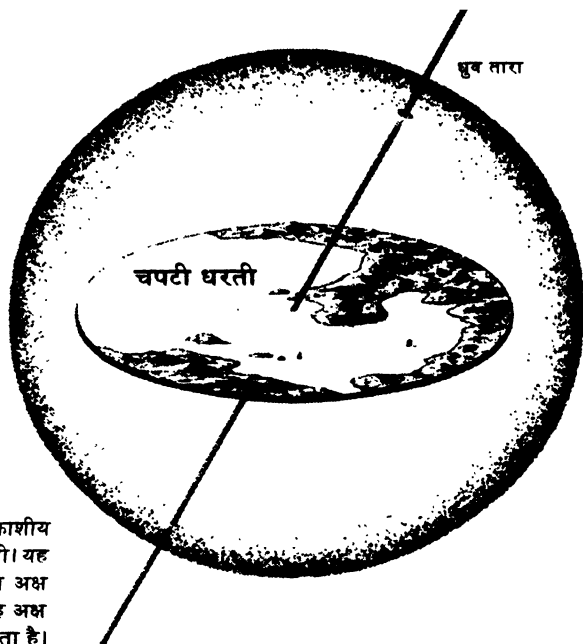
परिकल्पना: एक बड़े आकाशीय गोले के केंद्र में चपटी धरती। यह गोला ध्रुव तारे मे निकलते अक्ष के चारों ओर घूमता है। यह अक्ष पृथ्वी के केंद्र से होकर गुज़रता है।

की इस परिकल्पना के बाद उसने चपटी धरती को आकाशीय गोले के बीचों-बीच फिट कर दिया। अब तक की सब कोशिशों में ये परिकल्पना थोड़ी ज़्यादा बेहतर दिखती है, क्योंकि इसमें सूर्य रोज़ नष्ट नहीं होता बल्कि आकाशीय गोले के घूमने के साथ घूमता है और दिशा बदलता है। खैर...

कुछ नए तर्क

लेकिन एनेक्ज़ीमेन्डर यहीं पर संतुष्ट नहीं हुआ, उसने सोचना जारी रखा।

यदि धरती चपटी है और आकाशीय गोले के बीच में फिट है तो क्षितिज तक पहुंचना संभव होना चाहिए। (सैकड़ों साल पहले कुछ लोगों ने ऐसी कल्पना करके चित्र भी बनाए जिनमें कोई व्यक्ति क्षितिज पर पहुंच गया है और आकाश में सर घुसेड़कर उन कलपुर्जों को देख रहा है जो आकाशीय गोले को चलाते हैं।)

हो सकता है कि धरती आकाश के केंद्र में स्थित ज़मीन का एक बहुत बड़ा टुकड़ा हो, लेकिन अत्यंत विशाल आकाशीय गोले की तुलना में इसका आकार छोटा हो। परन्तु अगर ऐसा है तो दूर-दूर की यात्रा करने वाले यात्री इस टुकड़े के बिलकुल किनारे पर क्यों नहीं पहुंच पाते – जब भी वे दूर आगे बढ़ते हैं, समुद्र आ जाता है।

शायद ऐसा है कि ज़मीन तो बीच में है और चारों तरफ समुद्र ही समुद्र। परन्तु अगर ऐसा है तो धरती के किनारों से होकर पानी बह क्यों नहीं जाता और समुद्र खाली क्यों नहीं हो जाता?

शायद ऐसा इसलिए हो कि धरती के किनारे उठे हुए हैं – एक बड़ी कटोरी की तरह। इसीलिए पानी रुका हुआ है। तब तो धरती एक बड़ी कटोरी की तरह होगी।

. . . अगर एक पत्थर को हवा में छोड़ो तो वह नीचे गिरता है। फिर यह कटोरीनुमा धरती नीचे क्यों नहीं गिरती? कोई भी चीज़ बिना किसी टेके के हवा में ही कैसे लटकी रह सकती है।

यानी अगर आकाश को घूमता हुआ गोला मान कर चांद, तारों की गति समझा दें तो भी धरती को सपाट मानना टेढ़ी खीर ही था। सवाल-पे-सवाल जो थे। तो फिर धरती है कैसी?

चांद और सूर्य

तारे इतने छोटे-छोटे, बिन्दुओं के समान थे कि उनके बारे में कुछ भी कहना काफी मुश्किल था। लेकिन ऐसी दो चीज़ें थीं – सूर्य और चांद, जो सबसे फर्क दिखती थीं।

सूर्य हमेशा प्रकाश फेंकता हुआ गोला नज़र आता है, परन्तु चांद कभी पूरा चमकता हुआ गोला दिखता है तो कभी दो तिहाई, कभी आधा, तो कभी एक पतली-सी वक्र रेखा।

दिन, रात आकाश का अवलोकन कर रहे ग्रीस के लोगों ने पाया कि चंद्रमा सूर्य के सापेक्ष अपनी स्थिति बदलता रहता है। साथ ही यह अपना आकार भी बदल लेता है।

जब चंद्रमा पृथ्वी के एक ओर होता

कटोरी जैसे उठे हुए किनारे वाली पृथ्वी की परिकल्पना।
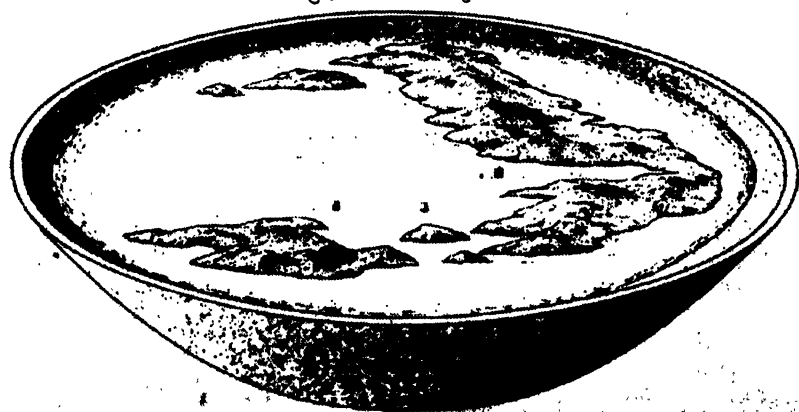
है और सूर्य दूसरी ओर – तब चंद्रमा पूरा चमकता हुआ गोला दिखता है। इसी तरह जब चांद और सूर्य दोनों पृथ्वी के एक ही तरफ होते हैं, तब अंधेरा हिस्सा हमारी तरफ होता है और चमकता हुआ हिस्सा इसके उल्टी तरफ; इसलिए हम इसे नहीं देख पाते। इस अवलोकन के बाद उन्होंने माना कि सूर्य के पास अपना खुद का प्रकाश है, चंद्रमा के पास नहीं। चंद्रमा सूर्य के प्रकाश से ही चमकता है।

इसी दौर में ग्रीस में ज्यामिति में तेज़ी से शोध हो रही थी। इस वजह से उन्हें अलग-अलग तरह के आकारों की विभिन्न स्थितियों की काफी जानकारी थी। चंद्रमा की विभिन्न स्थितियों को देखकर उन्होंने पाया कि एक गोले पर विभिन्न दिशाओं से प्रकाश डालकर यह स्थितियां बनाई जा सकती हैं। इसका मतलब हुआ – चंद्रमा गोल है। लेकिन सूर्य . . .?

सूर्य हर कोण से चंद्रमा पर रोशनी फेंकता है और वो भी बराबर – चाहे चंद्रमा पृथ्वी के पीछे हो या फिर आगे सूर्य की तरफ। कोई आकार जो चारों दिशाओं में एक-सा प्रकाश फेंके – गोला ही हो सकता है। तो सूर्य भी गोल है!

. . . आकाश एक गोला है, सूर्य भी और चंद्रमा भी। क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि पृथ्वी भी गोल है। लेकिन ज़रूरी नहीं कि ये नियम पृथ्वी पर भी लागू हो। आखिरकार सूर्य चमकता, धधकता गोला है, जबकि धरती नहीं। चांद आकाश में गति करता मालूम होता है, लेकिन पृथ्वी तो स्थिर नज़र आती है।

● ● ●

चांद की अलग-अलग स्थितियां।
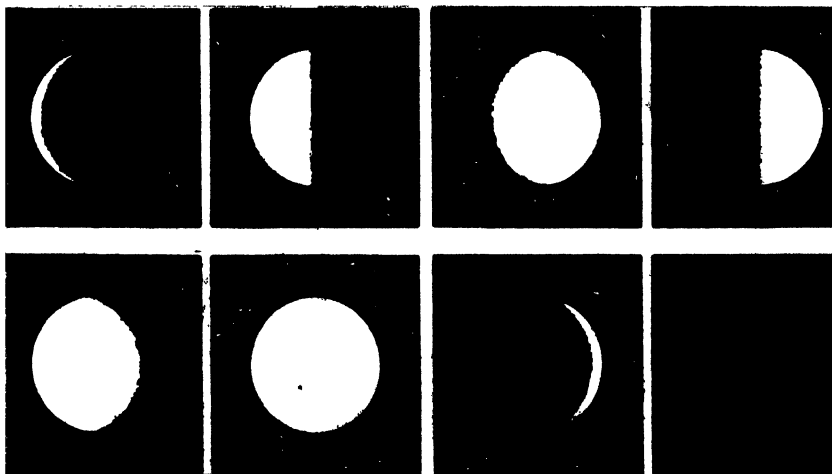
दूर देश के यात्री

उस समय दूर-दूर की यात्रा करने वाले यात्री पाते थे कि जब वे उत्तर की ओर जाते हैं, आकाश थोड़ा बदला हुआ नज़र आता है। अपने शहर, देश में, जो तारे उन्हें क्षितिज पर दिखते हैं, वे दूर जाने पर दिखना बंद हो जाते हैं। जब वे वापस लौटकर अपने शहर आते हैं तो उन्हें वही तारे क्षितिज पर फिर से दिखने लगते हैं। दक्षिण दिशा में जाने वाले यात्री भी इसी प्रकार की स्थिति पाते थे।

वैसे यह अनुभव पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले यात्रियों को भी होता था – लेकिन धारणा यह थी कि आकाशीय गोला ध्रुव तारे से निकलते अक्ष के चारों ओर पूर्व से पश्चिम में घूमता है। तो इस घूर्णन के साथ नए तारे भी दिखेंगे। इसलिए सवाल पूर्व-पश्चिम का नहीं बल्कि उत्तर-दक्षिण दिशा का था – कि यात्रियों को आकाश क्यों बदलता दिखता है। अगर धरती चपटी है तो इस पर कहीं भी जाओ हर जगह से सारे तारे नज़र आने चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। इस प्रश्न में उलझे एनेक्ज़ीमेन्डर ने सोचा कि कहीं धरती बेलनाकार डिब्बे की तरह तो नहीं! जो आकाश के बीचों-बीच पड़ा है। जब आप उत्तर की ओर बढ़ते हैं तो बेलन की वक्राकार ढलान के सहारे-सहारे चलते हैं। जब पीछे पलटकर देखते हैं तो ये ढलान कुछ तारों को अपने पीछे छुपा लेती है। यही दक्षिण दिशा में आगे बढ़ने पर भी होता है।

तो कुछ इस तरह व्याख्या की गई तारों के छुपने की। लेकिन अगर धरती बेलनाकार है तो चपटी क्यों दिखती है?

इसका जवाब कोई खास कठिन नहीं था। दरअसल पृथ्वी इतनी विशाल है और उसकी तुलना में हम इतने छोटे कि आसपास नज़र दौड़ाएं तो इसका एक बहुत छोटा-सा ही हिस्सा देख पाते हैं। और इस छोटे से हिस्से में बेलन की वक्र इतनी कम मुड़ती है कि यह चपटी ही दिखाई देती है।

ब्रह्मांड के बीच में बेलनाकार धरती की परिकल्पना।

चित्र: उमेश गौर
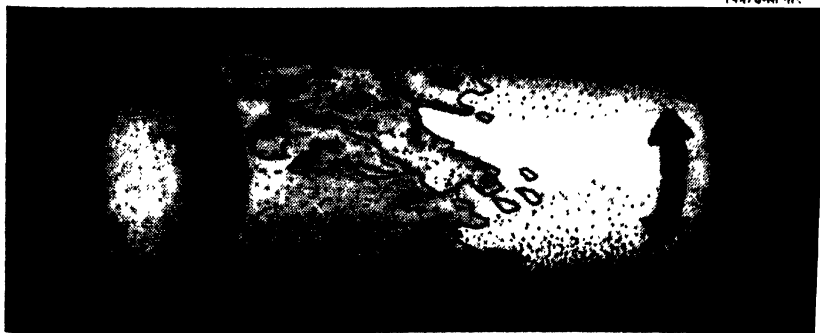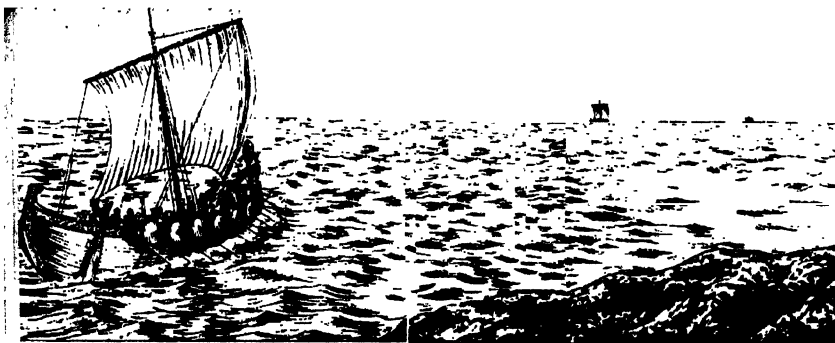
पानी की सतह पर दूर जाते जहाज़ ऐसे दिखते हैं मानों कि डूब रहे हों।

लेकिन यहां भी एक सवाल मौजूद था कि अगर धरती पर ढलान है तो हम फिसल क्यों नहीं जाते? या फिर आगे बढ़ने पर ऐसा क्यों नहीं लगता कि हम ढलान पर उतर रहे हैं?

डूबते जहाज़

धरती पर तो पेड़ हैं, पहाड़ हैं, ऊबड़-खाबड़ ढलान हैं, पर समुद्र में फैला पानी एकदम सपाट दिखता है। दूर-दूर तक देखो, बस पानी ही पानी।

पानी पर चलते जहाज़ों को दूर तक जाता देखने वाले एक बात महसूस करते थे कि जैसे-जैसे जहाज़ दूर जाता है तो वो धीरे-धीरे आंखों से इस तरह ओझल होता है मानों पानी में डूब रहा हो। पहले उसका नीचे का हिस्सा गायब होता दिखता है और सबसे आखिर में उसका पतवार बांधने वाला खंभा।

जब जहाज़ लौटता तो यात्री कसम खाकर बताते कि नहीं, जहाज़ कहीं भी नहीं डूबा। आखिर क्या है इसका मतलब? अगर धरती चपटी है तो जहाज़ों को धीरे-धीरे छोटा होना चाहिए दूर जाने पर, और पूरे के पूरे जहाज़ को दिखते रहना चाहिए। पर ऐसा क्यों नहीं होता?

. . . तो क्या जिस तरह तारों को पृथ्वी की वक्राकार ढलान अपने पीछे छिपा लेती है, उसी तरह आगे बढ़ते जहाज़ को भी वक्राकार ढलान अपने पीछे छिपा लेती है? लेकिन तारों की बात तो सिर्फ उत्तर-दक्षिण क्षितिज तक ही मानी जाती थी। पूर्व और पश्चिम की बात तो हमेशा 'आकाश के घूमने' में खो जाती थी।

लेकिन यहां तो चारों दिशाओं में जाते जहाज़ इसी तरह गायब होते दिखते थे कि पहले जहाज़ का निचला हिस्सा गुम होता नज़र आता, उसके बाद ऊपर वाला। तो इस गुत्थी का मतलब निकलता है कि पृथ्वी की हर दिशा में वक्राकार ढलान है और वो

भी एक जैसी।

अब अगर विभिन्न आकारों को देखें तो ऐसा एकमात्र आकार सिर्फ गोला है जो चारों ओर समान दूरी पर समान रूप से झुका हुआ है। . . . तो धरती भी गोल है! एक बड़े आकाशीय गोले के केन्द्र में स्थित एक और गोला जो आकाश की तुलना में छोटा है, लेकिन इंसान के आकार की तुलना में बहुत बड़ा। और इसी बड़े आकार की वजह से वक्र किसी भी जगह पर इतना कम झुकता है कि इसे महसूस करना मुश्किल है। इसीलिए हमें चपटी नज़र आती है पृथ्वी।

लेकिन क्या कोई और तरीका या तथ्य थे जिनके आधार पर इस दावे में और वज़न डाला जा सके।

चन्द्रग्रहण

कुछ दिनों के अंतराल के बाद चांद अपनी चमक खो देता है। इस पर एक काली छाया पड़ती दिखती है। थोड़े समय के बाद यह छाया दूर हो जाती है और चांद, अपनी चमक बिखेरता फिर से वैसा ही दिखने लगता है। ऐसी स्थिति में कहते हैं कि चंद्र को ग्रहण लग गया।

पुराने समय में लोग डर जाया करते थे कि एक बार चांद छुप गया तो शायद वापस नहीं आएगा।

लेकिन जो लोग आकाश के अवलोकन में लगे थे, जानते थे कि ऐसा नहीं होगा। उन्होंने गौर किया कि ग्रहण के समय चांद पूर्ण होता है। वे जानते थे कि पूरा चमकता चंद्र तभी दिखता है जब वह पृथ्वी के पीछे हो। यानी सूर्य और चांद के बीच पृथ्वी हो।

मान लो कि अगर कभी धरती, सूर्य और चंद्रमा के बिलकुल बीच में आ जाती है तो वो सूर्य की रोशनी को रोक लेगी और चंद्रमा तक प्रकाश नहीं पहुंच पाएगा। इस स्थिति में पृथ्वी की छाया बनेगी। यही होता है – चंद्रग्रहण के समय चन्द्रमा पृथ्वी की

चंद्रग्रहण की स्थिति
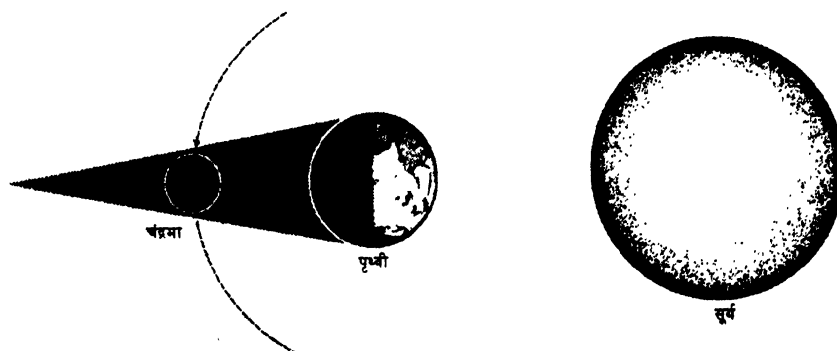
छाया में छुप जाता है। ग्रीस के लोगों ने गौर किया कि चंद्रमा पर पड़ रही पृथ्वी की छाया, हमेशा गोलाकार वक्र दिखती है; मानों कि किसी गोले का भाग हो। उन्होंने कई चंद्रग्रहणों का अवलोकन किया। हर बार छाया को गोलाकार वक्र ही पाया। यानी पृथ्वी का आकार ऐसा है जो चंद्रमा पर गोलाकार वक्रनुमा छाया बनाता है। केवल एक आकार ऐसा है जिस पर किसी भी दिशा से प्रकाश डालो, किसी दूसरे गोले पर उसकी छाया गोलाकार वक्र ही बनेगी। और वो है गोला।

ईसा से 450 साल पहले फिलोलॉस नाम का एक दार्शनिक इन तर्कों के आधार पर पूर्ण रूप से संतुष्ट हो चुका था कि पृथ्वी गोलाकार है। उसने तमाम तथ्यों को सामने रखा – आकाश में तारों की बदलती स्थिति, पानी के जहाज़ का गायब होना, चंद्रग्रहण के समय पृथ्वी की छाया – और अंत में हर बार पृथ्वी गोल ही निकली।

अभी तक हमें जो जानकारी है उसके आधार पर कह सकते हैं कि फिलोलॉस ही पहला व्यक्ति था जिसने साफ शब्दों में कहा कि पृथ्वी गोल है। और ईसा से लगभग चार सौ साल पहले तक शायद दुनिया के अधिकांश हिस्सों में यह माना जाने लगा था कि पृथ्वी गोल है।

लेकिन सवालों का उठना जारी था – अब जब तय हो गया था कि धरती गोल है तो दिमाग में बात आती ही है कि तो हम इसकी ढलान पर से फिसल क्यों नहीं जाते? या फिर धरती का ये गोला कितना बड़ा है?. . . आदि-आदि। इन सब पर चर्चा फिर कभी।

दीपक वर्मा – संदर्भ में कार्यरत।

यह लेख आइज़ेक एसिमोव की किताब 'द अर्थ इज़ राउण्ड' पर आधारित है।

पंखे की हवा कितनी गर्म कितनी ठंडी

अंक 12 में हमने आपसे ज़मीन पर रखे पंखे द्वारा फेंकी जा रही हवा के तापमान के बारे में एक सवाल पूछा था।
तस्वीर में दिखाए मुताबिक थर्मामीटर को चल रहे पंखे के सामने रखा और उसका तापमान नोट किया। फिर उसी थर्मामीटर को उस चलते हुए पंखे के पीछे रखा और उसका तापमान नोट किया।

आपको यह बताना था कि कौन-सी स्थिति में तापमान कम या ज़्यादा होगा या दोनों अवलोकन बराबर होंगे।
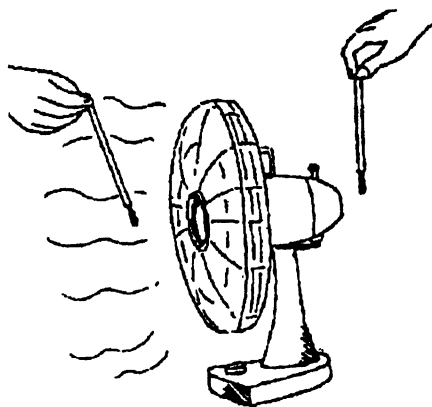
हमारे ऑफिस के सामने रहने वाले दो बच्चे एक दिन ऑफिस आए। उनमें से एक बच्चा कहने लगा, "भैयाजी हमारे घर का पंखा गरम हवा फेंकता है लेकिन इसके घर का (साथी की ओर इशारा करके) पंखा अच्छी ठंडी हवा देता है। हमारे घर के पंखे को क्या हो गया है?"

मैं यह तमाम बात बड़े ध्यान से सुन रहा था। इतने में दूसरा लड़का बोल पड़ा, "हमारा पंखा नया है

बड़ा फास्ट चलता है, इसलिए ठंडी हवा देता है। इनका पंखा पुराना है इसलिए गरम हवा देता है।"

मुझे यह सब सुनकर थोड़ा भी आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि हम में से ज़्यादातर लोग यही मानते हैं कि पंखे से आ रही हवा ठंडी होती है। लेकिन यह बात सही है या गलत इस बात का पता बहुत कम लोग लगाते हैं। आइए कुछ प्रयोग करके यह पता करने की कोशिश करते हैं कि पंखे की हवा ठंडी होती है या नहीं।

दो थर्मामीटर वाला प्रयोग

किसी टेबिल पंखे के सामने और पीछे एक-एक साधारण थर्मामीटर लटकाइए। अब पंखे को शुरू कीजिए और थोड़ी-थोड़ी देर बाद थर्मामीटर का तापमान देखते रहिए। आप देखेंगे कि काफी देर बाद भी पंखे के सामने रखे थर्मामीटर का तापमान उतना ही रहता है जितना पंखे के पीछे रखे थर्मामीटर का तापमान है। आप ज़रूर इसे खुद करके देखिएगा।

अगर बहुत ही संवेदनशील थर्मामीट इस्तेमाल किया जाए तो शायद पंखे के सामने रखने पर तापमान थोड़ा-सा ज़्यादा ही होगा — तेज़ बहती हवा के घर्षण की वजह से।

तो फिर हवा ठंडी क्यों लगती है?

अब तक तो आप भी यह सोचने लगे होंगे कि प्रयोग के परिणाम तो आपकी राय के विपरीत जा रहे हैं पंखे के सामने और पीछे हवा का तापमान एक जैसा ही है। तो क्या पंखे की हवा ठंडी नहीं होती?

चलिए इस बात को समझने की कोशिश करते हैं। आमतौर पर हम गरमी के दिनों में पसीने से तरबतर हालत में पंखे के सामने आते हैं। पंखे से आ रही तेज़ हवा हमारे पसीने से टकराकर पसीने का वाष्पन तेज़ी से क़रती है।

वाष्पन की इस क्रिया के दौरान पसीना हमारे शरीर की कुछ उष्मा को सोखकर वाष्पित होता है फलस्वरूप त्वचा का बाहरी हिस्सा ठंडक महसूस करता है। चूंकि गरमी के दिनों में हमारे आसपास के वातावरण की हवा शुष्क होती है इसलिए इस सूखी हवा में पसीने का वाष्पीकरण तेज़ी से हो जाता है। लेकिन बरसात के दिनों में जबकि आसपास के वातावरण में आर्द्र हवा होती है पसीने का वाष्पीकरण काफी धीमे-धीमे होता है, इसलिए हमें पंखे की हवा उतनी ठंडी नहीं लगती।

एक और बात पर गौर करना ज़रूरी है कि चाहे बरसात का

मौसम हो या दिसम्बर की ठिठुरती ठंड, हमारी चमड़ी की ग्रंथियां लगातार पसीना स्रावित करती ही रहती हैं — गर्मी के मौसम की अपेक्षा काफी कम, परन्तु निरन्तर, लगातार। इसलिए पंखे के सामने बैठने पर हमें हवा ठंडी लगती ही है, मौसम कोई भी हो।

हो सकता है आप अभी भी हमारी दलील को स्वीकार नहीं कर पा रहे हों। तो आइए एक और प्रयोग करके देख लेते हैं कि हमारी दलील में कितनी दम है।

एक नया प्रयोग

पहले प्रयोग की तरह दो साधारण साधारण थर्मामीटर लेते हैं — एक को पंखे के सामने और दूसरे को पंखे के पीछे लटकाते हैं। पंखे के सामने वाले थर्मामीटर पर एक छोटा-सा गीला कपड़ा लपेटते हैं और पंखे के पीछे वाला थर्मामीटर ज्यों का त्यों रहने देते हैं। अब पंखा चलाने पर हम देखते हैं कि पीछेवाले थर्मामीटर का तापमान तो स्थिर है लेकिन पंखे के सामने वाला थर्मामीटर तापमान में गिरावट दिखा रहा है। यहां भी तो गीले कपड़े का पानी थर्मामीटर से उष्मा लेकर वाष्पन कर रहा है। क्या यह हमारे पसीने से भीगे बदन जैसी घटना नहीं है?

एक छोटा-सा सवाल:

और आखिर में एक छोटा-सा सवाल। मैंने एक प्रयोग के दौरान पानी का तापमान जांचने के लिए तापमापी को पानी में डुबोया। कुछ देर बाद पानी में रखे-रखे तापमान नोट किया। फिर तापमापी को पानी से बाहर निकाला तो देखते ही देखते तापमान एकदम से गिरने लगा — थोड़ी ही देर में तापमान फिर से बढ़ना शुरू हो गया।

अगर आपने यह प्रयोग किया या करवाया हो तो आपके भी ऐसे ही अवलोकन आए होंगे — बता सकते हैं क्यों?

अपने जवाब हमें ज़रूर लिख भेजिए। इस पते पर — ***संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार होशंगाबाद, 461 001.***
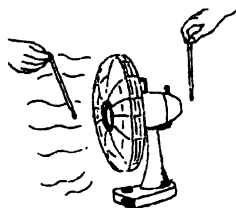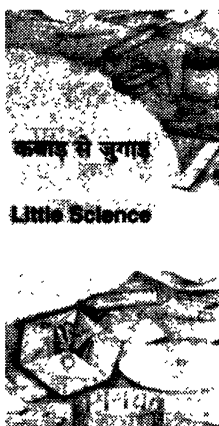
एकलव्य के प्रकाशन

खिलौनों को तोड़ने और जोड़ने में ही बच्चों को सबसे ज़्यादा मज़ा आता है। बच्चे हमेशा किसी-न-किसी खोजबीन में व्यस्त रहते हैं। वे इधर-उधर का कबाड़ इकट्ठा कर उससे कुछ-न-कुछ रचनात्मक बनाते ही रहते हैं। आसपास बिखरी माचिस की डिब्बी, कागज़, धागे की खाली गिट्टी, पुरानी चप्पल आदि जैसी चीज़ों से कुछ बनाकर विज्ञान के प्रयोग करने और समझने की किताबें।

मूल्य: 10, 10 और 8 रुपए।

जॉन होल्ट.

"बच्चे सीखने, समझने के अपने जन्मजात सामर्थ्य का केवल एक छोटा-सा भाग ही स्कूलों में विकसित कर पाते हैं, जबकि जीवन के दो-तीन प्रारंभिक वर्षों में वे इस सामर्थ्य का भरपूर उपयोग करते रहे थे। यह असफलता बच्चों में क्यों आती है? इसलिए, क्योंकि वे डरते हैं, ऊबते हैं और भ्रमित रहते हैं।

उनके मन में सबसे बड़ा भय होता है अपने आसपास के वयस्कों को निराश और नाराज़ करने का।

(किताब का एक अंश

प्रसिद्ध शिक्षाविद जॉन होल्ट की किताब 'हाउ चिल्ड्रन फेल' का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ संख्या: 283.

40 रु. (पेपर बैक), 100 रु. (हार्डकवर)

अनारको का दूसरा दिन

● सत्यु

चित्रः विप्लव शशि

अनारको बात-बात पर सवाल करती है और सही जवाब न मिलने पर झुंझलाती है . . . बड़ों की तरफ से थोपे गए अनावश्यक अनुशासन के खिलाफ विद्रोह करती है . . . सोचती है वह क्या करे, कैसे करे, यह सब पापा और मम्मी ही क्यों तय करते हैं? वे उसकी अपनी इच्छा जानने की कोशिश क्यों नहीं करते? कई बार बैठे-बैठे अनारको ख्यालों में खो जाती है और कल्पना में वह सब देखना शूरू कर देती है जो वह अपने लिए चाहती है। 'अनारको के आठ दिन' शीर्षक से लिखी किताब एक फैंटेसी कथा है, जिसमें अनारको के आठ सपनों का ज़िक्र है। ऐसा है अनारको का दूसरा सपना।

. . . एक पर एक चिड़ियां उड़ती जा रही हैं, जैसे ज़मीन तोड़कर चिड़ियों का फव्वारा चल रहा हो। इतनी सारी चिड़ियां कि हर तरफ रंग-बिरंगा हो रहा है। फिर और चिड़ियां, फिर और चिड़ियां। इतनी सारी कि गिनना शुरू करो तो फिर गिनते ही रहो। और गिनते-गिनते बस गिनती ही रह जाए और चिड़ियां देखना ही भूल जाओ . . . "अन्नो, अन्नो, चल अब उठ जल्दी।" अम्मी ने उसे झकझोरा और उसका सपना टूट गया। खैर, अनारको ने आंख मलते हुए कुछ सोचा, फिर खुश होकर कहा, "अच्छा अम्मी, ठाकुर जी को जल चढ़ाना है न?" अम्मी उसके कान के पास मुंह ले गईं और कहा, "नहीं, आज से तेरा स्कूल सवेरे का हो गया है, तुझे याद नहीं? उठकर स्कूल जा।"

अनारको उठ तो गई, पर उसकी तो पूरी योजना थी कि ठाकुर जी को जल चढ़ाने के बहाने आज भी फिर सेमल के नीचे बैठेगी, सो उसने कहा, "पर अम्मी, ठाकुर जी को खुश करना तो ज़रूरी है न?" अम्मी ने लंबी सांस छोड़ी। फिर कहा, "नहीं, स्कूल जाना उससे भी ज़रूरी है। पढ़ेगी नहीं तो विद्या कहां से आएगी? जा तैयार हो जा।" अनारको ने आखिरी कोशिश की, "लेकिन अम्मी, अगर ठाकुर जी खुश हो जाएंगे तो विद्या तो अपने-आप आ जाएगी, फिर स्कूल क्यों जाना?" अम्मी ने दूसरी बार लंबी सांस छोड़ी और कहा, "अच्छा जा, पापाजी से पूछ ले . . .।" अनारको को यही बात अच्छी नहीं लगती कि अम्मी हमेशा यह कह देती हैं कि अच्छा अब पापा से ही पूछ ले। पर उसे मालूम था कि अब पापा के पास जाना ही पड़ेगा।

"पापा मैं आज स्कूल नहीं जाऊंगी।"

"क्या कहा, स्कूल नहीं जाएगी? तो विद्या कहां से आएगी?" पापा ने ज़रा डपटकर पूछा। पर अनारको का तो एकदम ही मन नहीं था स्कूल जाने का। उसने पूछा, "पापा, विद्या मिल जाने से मैं क्या करूंगी?" पापाजी ऐसे सवाल के लिए तैयार नहीं थे, खीझ गए। फिर कहा, "तू जो विद्या

सीखेगी तो बड़ी होकर तेरे काम आएगी। चल, तैयार हो जा।" पर अनारको जमी रही, "अभी से विद्या सीखूंगी तो बड़ी होते-होते भूल जाऊंगी।" पापा ने चिल्लाते हुए कहा, "इत्ती-सी लड़की और सुबह उठते ही बक-बक, बक-बक। चल, हाथ मुंह धो, कुल्ला कर।"

मजबूरन अनारको ने वह सब किया जो उसे कहा गया था। गुस्से में रगड़-रगड़कर पांवों को धोया तो कल शाम की धूल पूरी छूट गई और पानी की काली-काली धार सरकने लगी। अनारको उसका सरकना देखती रही। फिर कुछ सोचा और पापा से कहा, "पापा, एक बात पूछूं?" पापा ने कहा, "चल पूछ।"

"विद्या क्या सिर्फ स्कूल से ही आती है, पापा?"

"क्या उल्टे-सीधे सवाल करती रहती है। जा रोटी रखी होगी, खा ले और बस्ता उठाके स्कूल जा।"

अनारको का बहुत-बहुत मन था कि पापा से कहे, "पापा एक बात और पूछूं।" और फिर पूछे कि आप जब भी कोई चीज़ जानते नहीं तो यह क्यों कह देते हैं कि उल्टा सवाल मत कर? लेकिन अनारको ने हिसाब लगाया और समझा कि अभी पापा से और सवाल पूछ नहीं सकते, नहीं तो पिटाई ही होगी। सो वह गणवेश पहनकर रसोई में गई और झटपट रोटी खाकर बस्ता उठाया और स्कूल चल दी।

स्कूल के रास्ते पर धूलवाली सड़क पर वह कुछ दूर पैर से लकीर खींचती चली। फिर एक कीड़े का करतब देखने लगी। उसने एक चींटी पकड़ी और उसे धूल के उस छोटे-से गड्ढे में छोड़ दिया जो उस कीड़े ने बनाया था। चींटी सरकते हुए बिलकुल नीचे पहुंच गई। फिर उसमें से एक कीड़ा निकला और चींटी को पकड़ लिया। फिर क्या, झट से उसने कीड़े पर थूका और तिनके से एक साथ थूक, धूल, चींटी और कीड़े को उठाकर किनारे पर कर दिया। फिर देखने लगी, पर कुछ साफ दिखाई नहीं दिया तो उठकर चलना शुरू किया। चलते-चलते खूब दूर-दूर तक देखने लगी। रेल की पटरी, पटरी के पीछे खंभे, खंभों के पीछे खेत, फिर पेड़ और वो . . . दूर पहाड़। वह सोचने ही लगी थी कि पहाड़ के पीछे क्या होगा, कैसा होगा कि इतने में स्कूल की घंटी बज उठी तो अनारको को दौड़ना पड़ा। अभी परसों किंकु प्रार्थना में देर से पहुंचा तो उसे चार छड़ी लगाई थी मास्साब ने। अनारको दौड़ते-हांफते, दौड़ते-हांफते स्कूल पहुंची और प्रार्थना में अपनी कक्षा की कतार में खड़ी हो गई। पहले मास्साब एक लाइन बोलते, फिर सब बच्चे एक साथ दोहराते। अनारको ने आज औरों के

साथ प्रार्थना में नहीं गाया। जब सब गाते तो वह चुप रहती, और एक अजीब-सी आवाज़ सुनाई पड़ती थी उसे। सबके गाने का कैसा मधुमक्खी-सा स्वर, पर बहुत ज़ोर-ज़ोर से। यही सुनते-सुनते वह सोचने लगी कि अच्छा, स्कूल में भी प्रार्थना होती है! इसका मतलब है कि स्कूल में भी मास्साब लोग मानते हैं कि ठाकुर जी को खुश करने से विद्या मिलती है। उसने इस बात को अपने मन में गांठ लिया और सोचा कि अगली बार अम्मी के सामने यही बात रखेगी। गांठ लगाते-लगाते प्रार्थना खत्म हो गई और फिर एक साथ कतारों को तोड़ने की हलचल। थोड़े समय के लिए उथल-पुथल, हल्ला-गुल्ला, धूल और फिर सब ठंडा – सब कमरों के अंदर।

पहली घंटी हिंदी की थी, मास्टरजी कविता याद करा रहे थे। "झंडा ऊंचा रहे हमारा।" मास्टरजी छड़ी हिला-हिलाकर कह रहे थे और उसके सारे साथी हिल-हिलकर दोहरा रहे थे। "झंडा ऊंचा रहे हमारा।" पर अनारको का मन इसमें नहीं था। उसे मज़ा नहीं आ रहा था, सो वह चुप रही और चुप रहते-रहते कुछ अलग-अलग ख्यालों में खो गई। अचानक सब तरफ सन्नाटा हो गया था और मास्टरजी सीधे उसकी तरफ आने लगे। इसके पहले कि वह कुछ संभल पाती, मास्टरजी ने उसका कान पकड़ा और पकड़े-पकड़े उसे दरवाज़े तक ले गए, फिर धकेलकर बाहर निकाल दिया और पीछे से चिल्लाए, "तेरा पढ़ने में मन नहीं लगता, तो मत आना स्कूल, जा!" अनारको को रोना तो आ ही रहा था, सो मुंह लटकाए चलती बनी। पर एक बार स्कूल के अहाते से निकलते ही उसे फुरफुरी होने लगी और वह तेज़-तेज़ कदम से सेमल के

पेड़ की तरफ चलने लगी। आज वहां कोई नहीं था, क्योंकि किंकु भी तो सबके साथ हिल रहा था उधर कक्षा में। सो सेमल के नीचे छोटे-छोटे पत्थरों को चुनने लगी, फिर हाथ से धूल हटाकर सपाट जगह बनाई और पत्थरों को सजाने लगी, गोल-गोल, ताकि फूल बन जाए। इतने में वह सोचने लगी पिछली गर्मी की बात, मामाजी के यहां भौंरी गांव में। गांव, थोड़ा आगे निकलकर जंगल और सुबह-सुबह अगर जंगल से थोड़ा आगे निकल जाओ तो सामने कल-कल करती चमकती नदी, और नदी के उस तरफ रेत। फिर वह और मंतो रेत में गड्ढा करते, बिलकुल नदी के किनारे, तो रेत में पानी भर आता। फिर वे दोनों गमछे से छोटी-छोटी मछलियां पकड़कर उस गड्ढे के पानी में छोड़ देते, बड़ी देर तक उन मछलियों को देखते रहते और फिर उस गड्ढे को धसकाकर मछलियों को फिर से पानी में जाने देते।

अनारको यह सब याद कर ही रही थी कि न जाने कैसे अचानक वह एक गांव में पहुंच गई। गांव के पास हरा-भरा जंगल था, जंगल के पार काली-भूरी चट्टानें थीं, चट्टानों के उस पार नीचे नरम-नरम, कीचड़-सी, भीगी-भीगी दलदली रेत थी और पास में नदी, और नदी में थीं मछलियां। अरे, ये क्या। मछलियां तो बातें कर रही थीं, और अनारको साफ सुन सकती थी उनकी बातें। पानी के अंदर गोल-से घेरे में थीं मछलियां। कुछ बैठक-सी हो रही थी मछलियों की। उसमें से एक मछली कुछ इस तरह से तनकर बोल रही थी कि अनारको को लगा, वह मछलियों का राजा है।

"सुनते हैं, कुछ मछलियां अनुशासन से नहीं रह रही हैं। जब मन आया
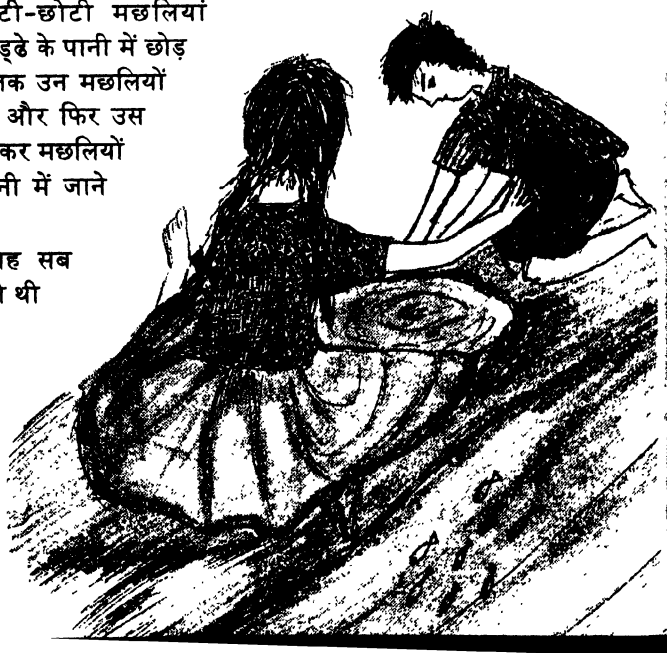
नाच रही हैं और जब मन आया गा रही हैं।"

एक साथ कई मछलियों ने सिर हिलाया, "हां महाराज, सही है, कुछ मछलियां बहुत ही सिरदर्द बनती जा रही हैं।"

महाराज मछली ने कहा, "फिर इनका इलाज किया जाए?"

एक मछली थोड़ा आगे को तैरकर आई और बोली, "इलाज क्या हो सकता है, महाराज। ये तो बचपन से ही ऐसी हैं।"

महाराज ने कहा, "फिर बचपन का इलाज किया जाए, मेरा मतलब,

बचपन से ही इलाज किया जाए।"

"हां महाराज, अब हम सारी मछलियों को बचपन से ही समझाना शुरू करें कि कैसे तैरना चाहिए। और कैसे रुकना चाहिए, कि क्या अच्छा होता है क्या बुरा, कि क्या सही होता है और क्या गलत।" एक अच्छी मछली ने अपनी दाढ़ी हिलाते हुए कहा। एक साथ इतना बोलने के कारण वह हांफ रहा था। इतने में एक दूसरी मछली बोल पड़ी, "अरे सारे बच्चे इतने चंचल हैं कि उनको एक जगह बैठा पाएं, तभी कुछ समझा पाएंगे।" दूसरी मछली का बोलना खत्म होते ही तीसरी मछली ने कहना शुरू किया, "पहले इस पर बात होनी चाहिए कि हम अपनी बात इतनी जगह कैसे समझा पाएंगे। कुछ मछलियां पत्थरवाले घाट पर रहती हैं, कुछ बरगद की नीचे वाली गहराई में, कुछ उधर ऊपर की ओर . . ।" इससे पहले कि वह मछलियां कहां-कहां रहती हैं, यह गिनाती चलती, एक चौथी मछली ने धीरे-धीरे गर्दन हिलाते हुए कहा, "अरे हमें जो कुछ भी समझाना होगा, हम उसे पत्थरों पर लिखवा लेंगे। फिर हम उन किताबों को पढ़ेंगे और देखेंगे कि उनमें वही बात लिखी है या नहीं जो हम समझाना चाहते हैं।" इस सबके दौरान महाराज मछली ने समझ लिया था कि बैठक का काम ठीक-ठाक चल रहा है, सो वह ऊंघ रहा था। अब वह अचानक हड़बड़ाकर उठा और कहा, "मैं भी देखना चाहूंगा कि हमारे बच्चे कैसी किताबों से पढ़ेंगे।" सारी मछलियों ने एक साथ सर हिलाया, "हां-हां, ज़रूर-ज़रूर, महाराज भी किताबों की जांच करेंगे।" और महाराज मछली फिर से ऊंघने लगा। चौथी मछली बहुत देर से चुप था और इस कोशिश में था कि बात का छोर कहीं और न चला जाए, सो बड़े ध्यान से धीरे-धीरे मुंह खोल और बंद कर रहा था। अब उसने बड़ी होशियारी जताते हुए कहा, "अगर बच्चे भाग जाएंगे तो हम कमरे बना देंगे। उन कमरों में हम उनको बैठा लेंगे। फिर सबको एक साथ समझाएंगे।"

एक पांचवीं मछली ने अपनी ऐनक सीधी कर, खुजलाते हुए कहा, "लेकिन कमरे में बैठे-बैठे तो बच्चे थक जाएंगे। फिर हम जो समझाएंगे, उनकी समझ में ही नहीं आएगा।" फिर वह अपनी जगह पर कुछ ऐसे हिलने-डुलने लगी जैसे कोई बहुत पते की बात की हो और दाएं-बाएं देखने लगी।

छठी मछली बहुत देर से चुप था, अब वह तन गया और कहा, "अरे हम उन्हें थोड़ी-थोड़ी देर में बाहर छोड़ देंगे।" एक सातवीं मछली अपनी ही जगह पर कुछ कुनमुनाई, कुछ हंसी। फिर हंसते हुए, पर सोचते हुए कहा, "भई, उनको बाहर छोड़ देंगे तो वे भाग जाएंगे। फिर लौटकर कमरों में नहीं आएंगे।" अब आठवीं मछली की

नाच रही हैं और जब मन आया गा रही हैं।''

एक साथ कई मछलियों ने सिर हिलाया, ''हां महाराज, सही है, कुछ मछलियां बहुत ही सिरदर्द बनती जा रही हैं।''

महाराज मछली ने कहा, ''फिर इनका इलाज किया जाए?''

एक मछली थोड़ा आगे को तैरकर आई और बोली, ''इलाज क्या हो सकता है, महाराज। ये तो बचपन से ही ऐसी हैं।''

महाराज ने कहा, ''फिर बचपन का इलाज किया जाए, मेरा मतलब,

के अवतरित रूप में अनुवादक आप और तुम के बीच में लटक गए हैं।

दूसरी बात है कि शायद उत्तराखंड के ग्रामीण स्कूली बच्चों की वास्तविक अवस्था की पहचान की कमी है। कक्षा आठ के विद्यार्थी की एक आदर्श छवि है, परन्तु अधिकतर जगहों पर वास्तविक विद्यार्थी उससे कोसों दूर है। इसीलिए लगता है कि किसी अभ्यास के लिए जिस हुनर की अपेक्षा है वो शायद असलियत में मौजूद ही न हो। मसलन साक्षर ग्रामवासियों से उम्मीद की गई है कि वे पूरे परितंत्र का लेखा जोखा कर लें, परन्तु अन्य जगह जो उदाहरण दिया गया है उसमें दूध उत्पादन का अनुमान लगाने का काम कक्षा 10 के विद्यार्थी ही कर पाए हैं। इसी प्रकार यह सोचना कि 12-13 वर्ष के छोटे बच्चे 50 किलोग्राम की क्षमता की कमानीदार तुला लेकर बांट सहित पहाड़ी रास्तों में ग्राम का भ्रमण करेंगे तो यह शायद बच्चों से ज़्यादती है।

यदि उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में — जहां पेड़ कटाई या चराई या आग से विनाश हुए हैं — जल और मिट्टी के बहाव को नापने का अभ्यास दिया जाता तो वे स्वयं तय कर पाते कि किस स्थिति में सबसे अधिक भूक्षरण हो रहा है। पंटवारी से यदि वे स्वयं आंकड़े मांगते (पाठ्यक्रम में शिक्षक इसकी व्यवस्था करते हैं) और फिर उन आंकड़ों की तुलना वस्तुस्थिति से करते तो विद्यार्थियों को सरकारी तंत्र की कर्मठता और विश्वसनीयता को परखने का भी मौका मिलता। इस प्रकार की कई और सुधार की सम्भावनाएं हैं जो अनुभव के साथ उभरेंगी। इसमें भी कोई शंका नहीं कि उत्तराखंड सेवा निधि में ऐसे अनुभवों को सूत्र में बांधने की पूरी क्षमता है।

पुस्तकमाला में एक चीज़ यदि खटकती है तो वह है मूल सिद्धांतों में एक विशिष्ट दृष्टिकोण का वर्चस्व। इसके कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। पुस्तकों में इस बात को बार-बार दोहराया गया है कि चराई ही उत्तराखंड के वनों के विनाश का मुख्य कारण है और इसलिए जानवरों को खूंटे पर खिलाना चाहिए। चराई के साथ आबादी की बढ़ोत्तरी, आग और (ग्रामीणों द्वारा) पेड़ कटाई को भी जंगल की दुर्गति के लिए दोषी ठहराया गया है। 'दंडक' और 'चिपको' की कर्मभूमि में यह मान्यता कुछ अटपटी-सी लगती है। पूरी पुस्तकमाला में (कार्य-पुस्तिका में एक वाक्य को छोड़कर) कहीं भी इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख नहीं है कि अंग्रेज़ हुकूमत ने बहुत बड़े पैमाने पर वनों को ग्राम समाज के अधिकार से छीन कर, उन्हें व्यवसायिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक छोर से दूसरे छोर तक साफ कर डाला। इसी क्रम में बांज को समाप्त कर दिया गया ताकि अधिक

बारी थी। महाराज मछली ज़ोर-ज़ोर से ऊंघ रहे थे। सो आठवीं मछली ने ज़रा खंखारा और कहने लगी, "हम एक ऐसा बटन बनाएंगे कि हम जब चाहें बच्चे बाहर से अंदर आ जाएंगे और जब चाहें बच्चे अंदर से बाहर चले जाएंगे।"

फिर अनारको को दिखने लगा बटन, फिर ढेर सारे बटन। फिर उनमें से एक बटन बड़ा होता गया, लंबा होता गया, काला होता गया और उसे दूर से स्कूल की घंटी दिखने लगी। "धत् तेरे की, मछलियों में भी स्कूल बनने लगा!" उसने सोचा और वह हड़बड़ाकर खड़ी हो गई। फिर चल दी स्कूल की ओर। दूसरी घंटी छूट चुकी थी और तीसरी घंटी लगने को थी। सो अनारको झट कक्षा में घुस गई और बस्ते में से किताब निकालकर पढ़ने लगी, "चार तिया बारह, चार चौके सोलह, चार पंजे . . . बी . . स . . ।" ये बात और है कि कक्षा में उसके साथी सात के पहाड़े पर हिल रहे थे।

सत्यु – पूरा नाम सतीनाथ षड़ंगी। भोपाल गैस त्रासदी तथा अन्य जन आंदोलनों से जुड़े हुए हैं। लेखन में गहरी रुचि।

विप्लव शशि – फाईन आर्ट में पढ़ाई, भोपाल में निवास।

'अनारको के आठ दिन' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा 1994 में प्रकाशित।

पुस्तक समीक्षा

किताब: हमारी धरती हमारा जीवन (उत्तराखंड क्षेत्र के विद्यालयों की कक्षा 6-10 के लिए पर्यावरण अध्ययन का पाठ्य-क्रम) लेखक: एम. जी. जैक्सन; अनुवाद: सतीष दत्त पाण्डेय; प्रकाशक: उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केन्द्र, अलमोड़ा, उ. प्र.।

पर्यावरण, शिक्षा और आजीविका

ऐतिहासिक चिपको आंदोलन की जन्मभूमि में पैदा इस कोशिश के कई अनुकरणीय पहलू हैं। जो कार्य उत्तराखंड में संभव हैं, वह देश के विभिन्न अंचलों में भी कुछ फेर बदल करके फैलाए जा सकते हैं। . . . पर्यावरण विषय नया ही नहीं बल्कि जटिल भी है। जो तर्क आज सही लगता है, उसे कुछ घटनाएं कल गलत भी साबित कर सकती हैं। इसीलिए पर्यावरण संबंधी मान्यताएं लगातार बदलती रहती हैं। और किसी भी समीक्षा की ज़िम्मेदारी बन जाती है कि उन परिवर्तनों को इंगित करे ताकि पाठ्यक्रम में भी निरन्तर विकास होता रहे।

जब किसी वस्तु को पाने में असुविधा होती है तब उसकी कीमत बढ़ने लगती है। शायद यही क्रम पर्यावरण के साथ भी चला। साठ के दशक तक इस देश में इतना साफ पानी था, इसकी नदियां इतनी कोमल थीं, और इसकी ज़मीन इतनी सुफला और सजला कि कौन कल्पना कर सकता था कि भोपाल में एक रसायन रातोंरात 2500 प्राणों को काल के पहुंचा सकता है। परन्तु विकास का पहिया कई कलियों को रौंदता हुआ निकल चुका है।

इसका पहला आभास हुआ जब

अपनी धरती, अपना प्रबन्ध, अपनी जिम्मेदारी

1974 में भारत सरकार ने जल प्रदूषण को रोकने के लिये कानून बनाया। उसके पहले दंड संहिता में अवश्य कुछ धाराएं थीं जिसके तहत किसी को भी सार्वजनिक जगह को गंदा करने से रोका जा सकता था। लेकिन बढ़ती हुई गंदगी को उन नियमों से रोकना असम्भव-सा हो रहा था। इसलिए अधिनियमों की पंक्ति बढ़ती गई। जल प्रदूषण के बाद वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने का कानून, फिर वन कानून में सुधार और वन्य प्राणी सुरक्षा अधिनियम। भोपाल कांड के बाद औद्योगिक दुर्घटनाओं संबंधी बीमाकरण भी हुआ और कुछ ही वर्ष बाद पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम भी पारित हो गया।

जैसे-जैसे कानून बनते गए, वैसे ही कुछ व्यक्तियों ने उनका उपयोग भी करना शुरू कर दिया। देश के कई भागों में पर्यावरणीय मसलों को लेकर उथल-पुथल शुरू हुई। कहीं कोई बांध के डूब क्षेत्र से परेशान था तो कहीं कोई दलदल से। कोई कहीं पेड़ बचाने में लगा था तो कहीं और कोई पेड़ उखाड़ने में। कोई साफ पानी के लिए लालायित था तो कोई और दूषित जल से त्रस्त। मुआवज़ा नियंत्रण और सुरक्षा के लिए अदालतों में याचिकाओं की लम्बी कतार खड़ी है। यहां तक कि सरकार कई दिनों से विशेष पर्यावरण न्यायालयों की भी बात कर रही है।

कुल मिला कर पर्यावरण एक जीवंत विषय बन गया है जो तमाम संगठनों के मानस में समा चुका है। प्रचार प्रसार के माध्यमों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। ज़िंदगी के हर पहलू को अब वह प्रत्यक्ष में छूने लगा है। इसी को देखते हुए शायद सर्वोच्च न्यायालय ने तीन वर्ष पहले निर्देश दिए कि विद्यालयीन शिक्षा में पर्यावरण को भी शामिल किया जाए। इसी निर्देश के फलस्वरूप पहले छुटपुट पर्यावरण शिक्षण के जो प्रयोग चल रहे थे उनका विस्तार हुआ है, और काफी पाठ्य-सामग्री का विकास भी हुआ है। इसी शृंखला में उत्तराखंड पर्यावरण शिक्षा केन्द्र, अलमोड़ा द्वारा कक्षा 6 से 10 तक के लिए प्रकाशित तथा प्रसारित

कक्षा- 7 की किताब से लिया गया एक पाठ

सूखा पदार्थ प्रतिशत निकालने का तरीका

यह बॉक्स असल में बॉक्स 8-2 का ही अनुक्रम है जिससे हमने प्रतिशत निकालना सीखा था। पहले हम एक भिन्न बनाते हैं और फिर उसे 100 से गुणा करते हैं।

मान लीजिए हमने चारे के लिए एक गट्ठा हरे बांज के पत्ते काटे। उसे हम अपने कमानीदार तराजू पर तौलते हैं और उसका वज़न 24 कि. ग्रा. निकलता है। हम यह जानना चाहते हैं कि इस 24 कि. ग्रा. में कितना सूखा पदार्थ है और कितना पानी?

यह निकालने के लिए हम एक एक कि. ग्रा. (या 1000 ग्राम) ताज़ी पत्तियों का नमूना लेते हैं। हम उन्हें धूप में सुखाते हैं और एक बार फिर तौलते हैं। मान लीजिए कि सूखे पत्ते 400 ग्राम निकलते हैं। 1000 ग्राम

शेष अगले पृष्ठ पर

हमारी धरती, हमारा जीवन शीर्षक का पाठ्यक्रम एक व्यावहारिक तथा सराहनीय प्रयास है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की सहायता व आर्थिक सहायोग से छपी इन पुस्तकों के लेखक हैं एम. जी. जैक्सन। श्री जैक्सन और उनके सहयोगियों ने बड़ी लगन से पाठ्यक्रम को तैयार किया है। स्पष्ट है कि वे उत्तराखंड क्षेत्र की परिस्थिति से अच्छी तरह से परिचित हैं। विशेष तौर पर इन पुस्तकों में कुशलतापूर्वक कई अभ्यास सुझाए गए हैं जिनसे विद्यार्थियों को वस्तु स्थिति को समझने में मदद मिले और साथ ही रचनात्मक कार्य भी हो।

गांव के परिवेश पर आधारित इस पाठ्यक्रम में कई कलाएं उभारी गई हैं। सरल विधियों द्वारा ज़मीन, पानी, फसल, घास इत्यादि को नापना, पौधों को उगा कर कलम लगाना, ईंधन और चारे की व्यवस्था करना, चूल्हे और शौचालय का निर्माण करना, तथा इस प्रकार के व्यावहारिक कामों से स्कूली शिक्षा को जोड़ना। इन पुस्तकों में इस संबंध में उपयोगी अनुभवों का भंडार है। इसके अलावा अपनी धरती, अपना प्रबंध, अपनी ज़िम्मेदारी शीर्षक से

ताज़े पत्तों में केवल 400 ग्राम सूखा पदार्थ है। इस तरह
1000 – 400 = 600 ग्राम पानी था।

चारे का सूखा पदार्थ प्रतिशत क्या हुआ? पहले हम एक भिन्न बनाते हैं, जैसे –

$$\frac{\text{सूखे पत्तों का वज़न}}{\text{ताज़े पत्तों का वज़न}} = \frac{400 \text{ ग्राम}}{1000 \text{ ग्राम}}$$

फिर हम प्रतिशत निकालने के लिए इसे 100 से गुणा करते हैं, जैसे –

$$= \frac{400}{1000} \times 100$$

$$= 40$$

इस तरह ताज़ी पत्ती चारे का सूखा पदार्थ प्रतिशत है 40.

आइए अब यह देखते हैं कि इस प्रतिशत संख्या को हम व्यावहारिक समस्याएं सुलझाने में कैसे उपयोग कर सकते हैं?

पहली वाली समस्या में हमने कहा था कि हमारा चारे का गट्ठा 24 कि. ग्रा. का था। अगर हम पूरे गट्ठे को सुखा लेते तो उसका वज़न कितना होता? निश्चय ही पूरे गट्ठे को सुखाना बहुत बड़ा काम है। इसीलिए तो शुरू में हमने सिर्फ 1 कि. ग्रा. का एक नमूना लिया था। क्योंकि हम जानते

एक प्रशिक्षक मार्गदर्शिका और एक कार्य-पुस्तिका भी प्रकाशित की गई है; जिनमें पाठ्यक्रम के सिद्धांतों को ग्रामीण समाज तक पहुंचाने की कोशिश की गई है।

ऐतिहासिक चिपको आंदोलन की जन्मभूमि में पैदा इस कोशिश के कई अनुकरणीय पहलू हैं। जो कार्य उत्तराखंड में संभव हैं, वह देश के विभिन्न अंचलों में भी कुछ फेर बदल करके फैलाए जा सकते हैं। ध्यान देने लायक बात यह है कि पर्यावरण विषय नया ही नहीं बल्कि जटिल भी है। जो तर्क आज सही लगता है, उसे कुछ घटनाएं कल गलत भी साबित कर सकती हैं। जैसे कि बीस वर्ष पहले माना जाता था कि मलेरिया समाप्त करने का उत्तम तरीका डी.डी.टी. छिड़कना है। परन्तु वर्तमान में सभी जान गए हैं कि जहां एक तरफ मच्छर इस दवा को हजम कर गया है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य ही धीरे-धीरे उसका शिकार हो गया है। इसीलिए पर्यावरण संबंधी मान्यताएं लगातार बदलती

हैं कि ताज़े पत्तों में 40 प्रतिशत सूखा पदार्थ होता है, हम यह निकाल सकते हैं कि अगर उसे सुखाया जाए तो पूरे गट्ठे का वज़न कितना होगा?

$$\text{गट्ठे के चारे का सूखा वज़न} = 24 \text{ कि. ग्रा.} \times \frac{\text{ताज़े पत्तों का प्रतिशत सूखा पदार्थ}}{100}$$

$$= 24 \text{ कि. ग्रा.} \times \frac{40}{100}$$

$$= 9.6 \text{ कि. ग्रा.}$$

अब यह मानिए कि हमारा वह चारे का गट्ठा एक ही पेड़ से काटा गया था। हमारे पोषक क्षेत्र में प्रति नाली 20 ऐसे पेड़ हैं, तो फिर प्रति नाली चारा सूखा पदार्थ का प्रतिशत क्या हुआ?

पहले प्रति नाली चारे की उपज निकालिए।

$$\text{ताज़ा चारा प्रति नाली} = 24 \text{ कि. ग्रा.} \times 20$$

$$= 480 \text{ कि. ग्रा.}$$

अब इस संख्या को उसके तुल्यमान सूखा पदार्थ परिमाण में बदलिए।

$$\text{एक नाली में उपजा सूखे चारे का वज़न} = 480 \times \frac{40}{100}$$

$$= 192 \text{ कि. ग्रा.}$$

रहती हैं। और किसी भी समीक्षा की ज़िम्मेदारी बन जाती है कि उन परिवर्तनों को इंगित करे ताकि पाठ्यक्रम में भी निरन्तर विकास होता रहे।

इन पुस्तकों में कुछ सुधार यदि शैली में किया जाए तो वे और लोकप्रिय हो सकती हैं। सतीश दत्त पाण्डेय ने बड़ी मेहनत से हिन्दी अनुवाद किया है। ऐसी कठिन और तकनीकी विद्या को स्कूली बच्चों के लिए रोचक बनाना कोई आसान काम नहीं है। आशा है कि अगले संस्करण में भाषा और सरल की जाएगी और हिन्दी की जगह हिंदुस्तानी का प्रयोग किया जाएगा ताकि आम लोग भी बात की नस को पकड़ सकें। गणना, चित्रण और व्याकरण की जो छोटी मोटी गलतियां हैं उन्हें भी निस्संदेह सुधार लिया जाएगा। एक दिलचस्प बात है कि अंग्रेज़ी में बड़े और छोटे को सम्बोधित करने में कोई अंतर नहीं है परन्तु हिन्दी

के अवतरित रूप में अनुवादक आप और तुम के बीच में लटक गए हैं।

दूसरी बात है कि शायद उत्तराखंड के ग्रामीण स्कूली बच्चों की वास्तविक अवस्था की पहचान की कमी है। कक्षा आठ के विद्यार्थी की एक आदर्श छवि है, परन्तु अधिकतर जगहों पर वास्तविक विद्यार्थी उससे कोसों दूर है। इसीलिए लगता है कि किसी अभ्यास के लिए जिस हुनर की अपेक्षा है वो शायद असलियत में मौजूद ही न हो। मसलन साक्षर ग्रामवासियों से उम्मीद की गई है कि वे पूरे परितंत्र का लेखा जोखा कर लें, परन्तु अन्य जगह जो उदाहरण दिया गया है उसमें दूध उत्पादन का अनुमान लगाने का काम कक्षा 10 के विद्यार्थी ही कर पाए हैं। इसी प्रकार यह सोचना कि 12-13 वर्ष के छोटे बच्चे 50 किलोग्राम की क्षमता की कमानीदार तुला लेकर बांट सहित पहाड़ी रास्तों में ग्राम का भ्रमण करेंगे तो यह शायद बच्चों से ज़्यादती है।

यदि उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में – जहां पेड़ कटाई या चराई या आग से विनाश हुए हैं – जल और मिट्टी के बहाव को नापने का अभ्यास दिया जाता तो वे स्वयं तय कर पाते कि किस स्थिति में सबसे अधिक भूक्षरण हो रहा है। पंटवारी से यदि वे स्वयं आंकड़े मांगते (पाठ्यक्रम में शिक्षक इसकी व्यवस्था करते हैं) और फिर उन आंकड़ों की तुलना वस्तुस्थिति से करते तो विद्यार्थियों को सरकारी तंत्र की कर्मठता और विश्वसनीयता को परखने का भी मौका मिलता। इस प्रकार की कई और सुधार की सम्भावनाएं हैं जो अनुभव के साथ उभरेंगी। इसमें भी कोई शंका नहीं कि उत्तराखंड सेवा निधि में ऐसे अनुभवों को सूत्र में बांधने की पूरी क्षमता है।

पुस्तकमाला में एक चीज़ यदि खटकती है तो वह है मूल सिद्धांतों में एक विशिष्ट दृष्टिकोण का वर्चस्व। इसके कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। पुस्तकों में इस बात को बार-बार दोहराया गया है कि चराई ही उत्तराखंड के वनों के विनाश का मुख्य कारण है और इसलिए जानवरों को खूंटे पर खिलाना चाहिए। चराई के साथ आबादी की बढ़ोत्तरी, आग और (ग्रामीणों द्वारा) पेड़ कटाई को भी जंगल की दुर्गति के लिए दोषी ठहराया गया है। 'दंडक' और 'चिपको' की कर्मभूमि में यह मान्यता कुछ अटपटी-सी लगती है। पूरी पुस्तकमाला में (कार्य-पुस्तिका में एक वाक्य को छोड़कर) कहीं भी इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख नहीं है कि अंग्रेज़ हुकूमत ने बहुत बड़े पैमाने पर वनों को ग्राम समाज के अधिकार से छीन कर, उन्हें व्यवसायिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक छोर से दूसरे छोर तक साफ कर डाला। इसी क्रम में बांज को समाप्त कर दिया गया ताकि अधिक

कक्षा- 7 की किताब के एक पाठ का अंश

पेड़ों से बीज कैसे एकत्र करें

अकेसिया (अकेसिया डेक्यूरेंस, अकेसिया मिर्न्सी)

अकेसिया में हर साल बीज बनते हैं। जनवरी माह में पीले रोएंदार फूल आते हैं। बीज लगभग 10 से. मी. लंबी पतली फलियों में रहते हैं। फलियां जून माह में पकती हैं। पकने पर वे फट से खुल जाती हैं और बीजों को पेड़ से कुछ दूरी पर छिटका देती हैं। इसलिए फलियों को खुलने से पहले ही तोड़ लेना होता है। फलियों को धूप में सुखाकर हल्की गहाई की जाती है। 1000 बीजों का वज़न लगभग 14 ग्राम होता है। कस कर बन्द किए गए प्लास्टिक के थैलों में वे कई साल तक अंकुरण क्षमता रखते हैं।

बांज (क्वेरकस ल्यूकोट्राकोफोरा)

. . . याद रखिए कि बांज के पेड़ आम तौर से हर दूसरे साल ही अच्छी बीज पैदावार करते हैं। बीजों को कस कर बन्द किए गए प्लास्टिक के थैलों में एक साल तक रखा जा सकता है ताकि अगले साल उपयोग किया जा सके। हां, उनकी अंकुरण क्षमता थोड़ी बहुत कम हो जाएगी। 1000 बीजों का वज़न लगभग दो किलो होता है।

'मूल्यवान' चीड़ उसकी जगह ले सके।

यही 'मूल्य' की समझ पाठ्यक्रम की बुनियाद में विराजमान है। पूरी शिक्षा का उद्देश्य ही है 'अधिकतम सम्भव उत्पादकता' को हासिल करना। ऐसे संदर्भ में उपयोगिता की परिभाषा केवल मानव समाज से जुड़ी है – बीज, पशु आहार और भूसे की ज़रूरतें अनाज का 'नष्ट' होना हुआ।

मानवों में भी कोई भेद भाव नहीं है; गांव में सभी को बराबर मान लिया गया है, पुरुष और महिला में कोई अंतर नहीं है। सुरक्षा केवल दीवारें प्रदान कर सकती हैं; ग्राम सभा के सामूहिक निर्णय द्वारा चराई के क्रम को तय करने को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

घास चारा को पत्ता चारा से हीन माना गया है; घास की चराई का खाद, घासनियों के स्वास्थ्य और आहार की पौष्टिकता से सम्बंधों का कोई उल्लेख नहीं है। निजी स्वार्थों को 'टिकाऊ उत्पादन' और 'रख-रखाव' के लिए अहम् ठहराया गया है; सार्वजनिक प्रक्रियाओं और संयुक्त परिवार को अड़चन के रूप में प्रस्तुत

किया गया है।

ये समस्त मान्यताएं एक तरह से आधुनिक विकास और विज्ञान के बेढंगे समझ की देन हैं। मनुष्य की बुनियादी ज़रूरतों को पानी, दूध, ईंधन और पैसों तक सीमित करके, आधुनिकता में सामाजिक रिश्तों, शादी, त्यौहार, जन्म, मृत्यु, दुख और सुख के लिए कोई स्थान बाकी नहीं रह जाता। तमाम पारम्परिक तरीकों की बलि चढ़ा दी जाती है और नागफनी के जीवंत संधान की जगह केवल मृत शिलाओं की दीवार ही नज़र आती है। पानी को नियंत्रित करने के लिए प्लास्टिक की चादरें, पाइप और टैंक, पहाड़ी झरनों के कलरव को मूक कर देती हैं।

अंत में पुस्तकों के पन्नों में से मानो पहाड़ का भाव विहीन चेहरा ही झांक रहा हो। उस चेहरे को 'उत्पादकता' और 'उन्नतशीलता' के खूनी पिस्सुओं से आखिर कौन बचाएगा? मानव संसाधन विकास मंत्रालय की इस भेंट में मानव एक निर्जीव संसाधन मात्र प्रकट होता है।

दुनू रॉय –

कक्षा-8 की किताब का एक पाठ

एक टेढ़े तिरछे खेत को नापने का तरीका

अभ्यास-2 (कक्षा-6) में आपने खेतों को साफ सुथरे वर्गों और आयतों में बांटा था। इनमें से किसी की भी लंबाई को उसकी चौड़ाई से गुणा करके आप सरलता से उसका क्षेत्रफल निकाल लेते थे। किसी गांव में ऐसे वर्गाकार या आयताकार खेत नहीं होते। आप देखेंगे कि वे सब टेढ़े मेढ़े तिरछे होते हैं जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है।
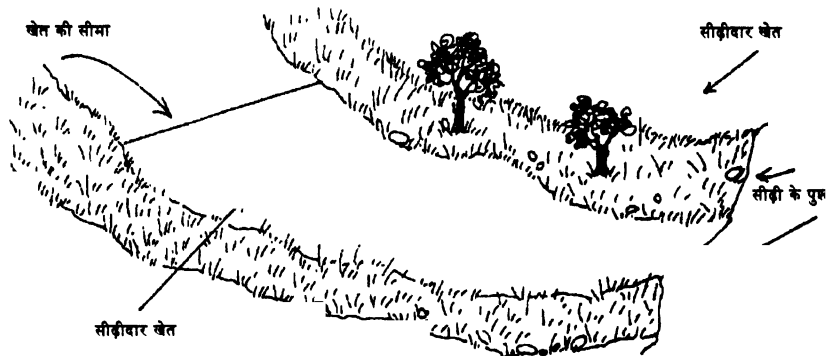
किसी ऐसे खेत का क्षेत्रफल निकालने का सैद्धांतिक तरीका है – इसको कई छोटे-छोटे समान आयताकार या वर्गाकार टुकड़ों में बांटकर उनका क्षेत्रफल निकालना तथा फिर पूरे खेत का क्षेत्रफल निकालना। यह सीखने के लिए आइए हम कागज़ पर एक अभ्यास करें। खेत को ऊपर के चित्र की तरह अंकित कीजिए। उसके बाद डोरी से कई सीधी पड़ी हुई रेखाएं खींचिए। इन पंक्तियों को नीचे के चित्र में 'क' 'ख' 'ग' 'घ' 'ङ' से दिखाया गया है। जितना ही तिरछा खेत होगा उतनी ही अधिक ऐसी सीधी पड़ी हुई रेखाओं की आपको ज़रूरत होगी। फिर, हर रेखा के मध्य बिन्दु पर खड़ी रेखाएं डालिए और उन्हें 'त' 'थ' 'द' 'ध' 'न' से चिन्हित कीजिए। इन्हें अनुप्रस्थ रेखाएं कहते हैं।
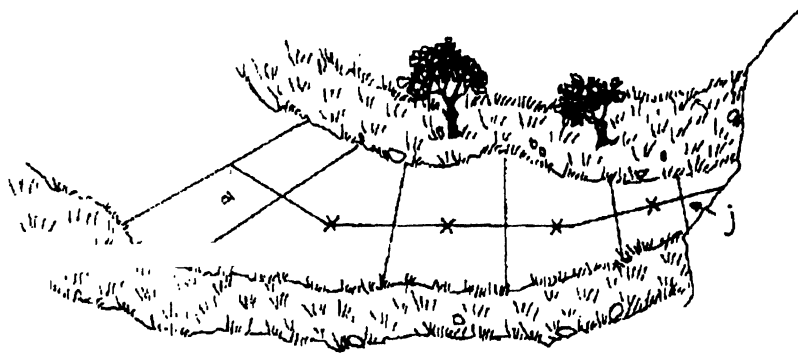
वास्तव में आप कर यह रहे हैं कि एक बड़े टेढ़े खेत को छोटे-छोटे आयतों में बांट रहे हैं, जैसे –
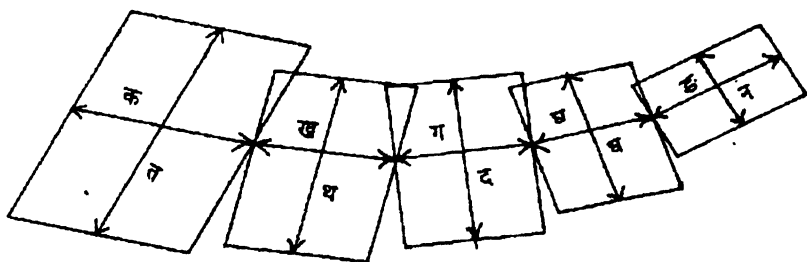
खेत का क्षेत्रफल लगभग इस प्रकार होगा

क्षेत्रफल = क × त + ख × थ + ग × द + घ × ध + ङ × न

अतः हम हर आयत का क्षेत्रफल निकालने के लिए उसकी लंबाई को चौड़ाई से गुणा कर देते हैं और फिर सब क्षेत्रफलों को जोड़ कर पूरे खेत का क्षेत्रफल निकाल लेते हैं।

एक उदाहरण देखें : किसी एक खेत में ऊपर वाले चित्र के 'क' और 'त' को नापा जाता है और वे इस प्रकार मिलते हैं –

क (चौड़ाई) = 3.12 मी. (3 मीटर और 12 सेंटीमीटर)

त (लम्बाई) = 4.05 मी. (4 मीटर और 5 सेंटीमीटर)

इसी तरह अन्य आयतों की लंबाई और चौड़ाई निकालकर उनका क्षेत्रफल निकाला जाएगा।

याद रखिए कि इस तरीके से लगभग सही पणिाम ही निकलते हैं। कुछ जगहें ऐसी होती हैं जहां आयतों की रेखाएं एक दूसरे के ऊपर पड़ जाती हैं। इस तरह की गलतियां उन जगहों के जोड़-तोड़ से ठीक हो जाती हैं जो किसी भी आयत में नहीं पड़ती।

जब आप किसी खेत को नापने जाएं तो उसे नापने का एक तुरंत और व्यावहारिक तरीका इस प्रकार है:

1. एक सिरे से शुरूआत करके खेत की चौड़ाई को पांच-पांच मीटर के फासले से नापिए (अनुप्रस्थ रेखाएं) और हर नाप को लिखिए। अंत में सबका औसत निकाल लीजिए। यह हुई खेत की चौड़ाई जिसे 'क' कहिए।

2. खेत की लंबाई नापिए। अपनी नाप खेत के सामने और पीछे के किनारों के लगभग बीच में कीजिए, चाहे वह एक तिरछी लाइन ही क्यों न हो। इसे 'ख' कहिए।

3. आपके खेत का क्षेत्रफल है –

   क्षेत्रफल = क × ख

एक उदाहरण नीचे दिया गया है, हम पृष्ठ 25 पर दिखाए गए खेत को लेंगे, लेकिन उसे एक असली खेत मानकर चलेंगे –
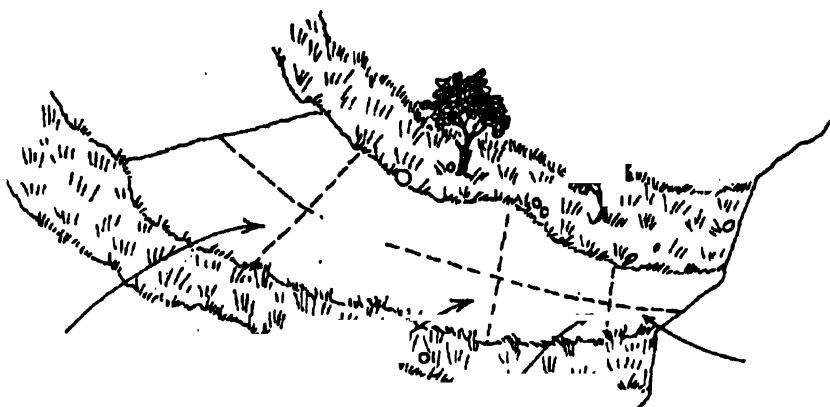
खेत की चौड़ाई को तीन जगहों पर नापिए। चौड़ाई की रेखाएं जहां वे लंबाई की रेखाओं को काटें वहां उससे लगभग लंबवत हों।

इस रेखा पर खेत की लंबाई नापिए।

मान लीजिए कि लम्बाई 'क' मीटर है और खेत की चौड़ाई के तीन नाप हैं 8 मी., 6 मी. और 4 मी.। 'ख' इन तीन नापों का औसत होगा,

या $8 + 6 + 4$ = 6 मी.

खेत का क्षेत्रफल होगा लगभग = 18×6
= 108 वर्ग मीटर

या 1/2 नाली* से थोड़ा अधिक

* पर्वतीय क्षेत्रों में ज़मीन नापने की इकाई

दुनू रॉय — विदूषक कारखाना, अनूपपुर, ज़िला शहडोल, म.प्र. में लम्बे अर्से तक रहे। पर्यावरण, विकास, टेक्नॉलॉजी एवं जनविज्ञान के मुद्दों पर लेखन एवं कार्य। दिल्ली में निवास।

दिमाग भी बौराया

गोल-गोल चक्कर खाने के बाद अचानक रुक जाओ तो कैसा लगता है — मानों सिर के साथ, आसपास का सारा जहां हमारे साथ घूम रहा हो; और खड़े रहने की कोशिश करो तो बस लगता है कि गिर ही पड़ेंगे।

क्यों होता है ऐसा कि हम रुक गए हैं फिर भी लगता है कि अभी भी घूम रहे हैं। वैसे, अगर आप जवाब की तलाश में निकलने वाले हैं तो जान लीजिए कि इस भूल-भुलैया का रास्ता कान के भीतर की ओर जाता है! बाहर से दिखने वाले कान के छेद में आगे बढ़ते जाएं तो कान के परदे के बाद एक जगह अर्धवृत के समान मुड़ी हुई तीन नलियां मिलती हैं। इनमें द्रव भरा रहता है जिसमें पतली-पतली तंतु कोशिकाएं डूबी रहती हैं। ये तंतु कोशिकाएं दिमाग की ओर जा रही तंत्रिकाओं से जुड़ी रहती हैं। इस अर्ध-वृत्ताकार तंत्र का काम है शरीर के आगे-पीछे, दाएं-बाएं मुड़ने आदि की दिशा और गति के प्रति संवेदनशील होना। इस सिलसिले में यह सिर की स्थिति पर नज़र रखता है — जैसे ही सिर मुड़ा या घूमा, इसने दिमाग को खबर की।

तो होता यह है कि शरीर की गति के साथ अगर सिर हिलता है — तो इन नलियों में भरा द्रव भी हिलता है; इस हिलते द्रव के कारण इनमें डूबी तंतु कोशिकाएं भी आगे-पीछे हिलने-डुलने लगती हैं; इनके आगे-पीछे होने से इनसे जुड़ी तंत्रिकाएं में हलन-चलन होता है, जिससे मस्तिष्क तक संदेश पहुंचता है; और मस्तिष्क इन संदेशों का विश्लेषण कर शरीर की कोणीय स्थिति पर नज़र रखता है और शारीरिक संतुलन बना रहे, इसके लिए ज़रूरी आदेश दूसरे अंगों को भेजता है। जितनी तेज़ गति होगी, उतने ही तेज़ और तीव्र आवेग मस्तिष्क तक पहुंचते हैं।

. . . तो होता यह है कि जब हम गोल-गोल चक्कर खाते हुए घूमते हैं तो नलियों में भरा द्रव भी घूमने लगता है। अब आप तो अचानक रुक गए लेकिन हिलते द्रव को स्थिर होने में कुछ समय लगता है। ऐसी स्थिति में शरीर के संतुलन की जानकारी दे रहे दूसरे अंग दिमाग को बताते हैं कि शरीर स्थिर हो चुका है, परन्तु इन नलियों में हिलते द्रव के कारण पंहुच रहे संदेश दिमाग को बताते हैं कि शरीर अभी-भी घूम रहा है। कुल मिलाकर दिमाग इन विरोधाभासी संदेशों से बौरा जाता है और शरीर के अंगो को संतुलन बनाए रखने का संदेश देने में गच्चा खा जाता है। इसीलिए हमें रुक जाने के बाद भी दुनिया थोड़ी देर तक घूमती हुई लगती है और महसूस होता है कि बस अब गिरे, अब गिरे।

चलिए ज़रा एक बार फिर से दिमाग को गच्चा देने की कोशिश करके देखिए तो सही। सच, घूमने में बड़ा मज़ा आता है!
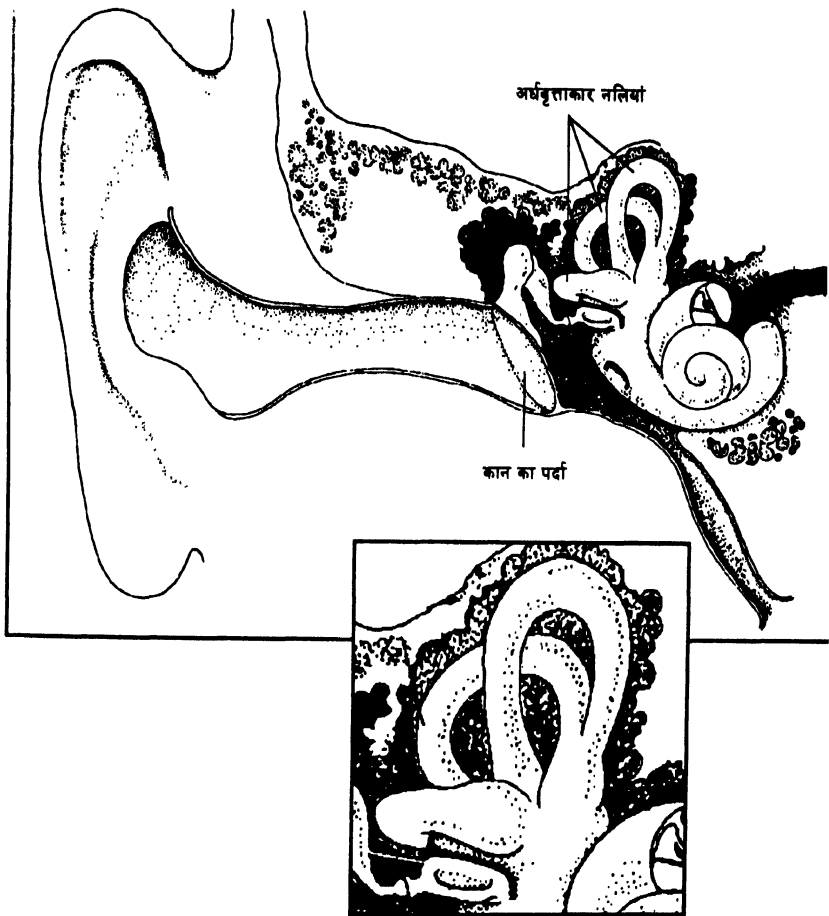
घूमता द्रव और घूमता दिमाग: कान के अंदर घुसते ही पर्दे के थोड़ा आगे मिलती हैं ये अर्धवृत्ताकार नलियां। इनमें द्रव भरा होता है और पतली तंतु कोशिकाएं इस द्रव में डूबी रहती हैं। इन कोशिकाओं से जुड़ी होती हैं मस्तिष्क तक पहुंचती तंत्रिकाएं। ये नलियां शरीर की गति और दिशा पर नज़र रखती हैं। इस काम को यह सिर की स्थिति पर नज़र रखकर अंजाम देती हैं। शरीर के हिलने डुलने के साथ इनमें भरा द्रव भी हिलता डुलता है। इस हलन-चलन के कारण तंतु कोशिकाएं भी आगे पीछे होती हैं; और इन कोशिकाओं के आगे पीछे हिलने से तंत्रिकाओं के ज़रिए दिमाग को खबर मिल जाती है – शरीर की गति के बारे में।